नरेश मेहता और उनका महाप्रस्थान

(श्री नरेश मेहता द्वारा लिखित 'महाप्रस्थान' खण्डकाव्य का आलोचनात्मक एवं व्याख्यात्मक मूल्यांकन)

डॉ० कृष्णदेव शर्मा

एम० ए०, पी-एच० डी०

रामलाल आनन्द कालेज,

दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली



रीगल बुक डिपो, दिल्ली-६

प्रकाशक :
रीगल बुक डिपो,
अमीर चन्द मार्ग,
दिल्ली-११०००६

संस्करण : नवीन १९७८

मूल्य : ७.००

मुद्रक :
रामा कम्पोजिंग ऐजेंसी द्वारा
वैदिक मुद्रणालय दिल्ली-११०००६

भूमिका

श्री नरेश मेहता 'दूसरा सप्तक' के कवि तथा नई पीढ़ी के कवियों में सर्वाधिक शिल्प-सजग कवि हैं। व्यापक सामाजिक विचारों, उदात्त कल्पनाओं, प्रकृति, प्रेम तथा कला-सौष्ठव की दृष्टि से नयी पीढ़ी के कवियों में उनका स्थान मूर्धन्य है। उनकी कृतियों में मानवता के प्रति प्रेम-भाव, उज्ज्वल भविष्य के प्रति गहन आस्था, अतीत-गौरव मे भी वर्तमान जीवन की सामयिक एवं शाश्वत समस्याओं का अनुसंधान एवं जीवन की वास्तविकताओं के प्रति झुकाव आदि के कारण उनके काव्य की भाव-भूमि अत्यन्त व्यापक है। 'उपस', 'जनगरवा', 'तीर्थ जल', 'मेघ-मिथुन' एवं 'समय-देवता' आदि कविताओं में कवि के भाव-क्षेत्र के उत्तरोत्तर विकास को देखा जा सकता है। 'महाप्रस्थान' कवि की नवीनतम कृति है, जिसमें कवि ने महाभारत में वर्णित पाण्डवों के स्वर्गारोहण की गाथा को अपनी कल्पना एवं चिन्तन की गम्भीरता को समन्वित करके एक नवीन आयाम प्रदान किया है।

प्रस्तुत पुस्तक 'नरेश मेहता और उनका महाप्रस्थान' दो खण्डों में विभक्त है—आलोचना-खण्ड और व्याख्या-खण्ड। आलोचना-खण्ड में नरेश मेहता के साहित्यिक, व्यक्तित्व तथा महाप्रस्थान काव्य के कथानक, चरित्र-चित्रण, समस्याएं, प्रकृति प्रेम, काव्य रूप, काव्य-सौंदर्य, भाषा-सौंदर्य, संदेश और नामकरण पर विशदता से प्रकाश डाला गया है। व्याख्या-खण्ड में 'महाप्रस्थान' की सम्पूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। प्रसंग और व्याख्या के साथ ही 'विशेष' के अन्तर्गत काव्य-कृति के व्याख्येय स्थल के साहित्यिक-सौंदर्य का भी उद्घाटन किया गया है। इस प्रकार पुस्तक को पूर्ण बनाने की चेष्टा की गई है।

'नरेश मेहता और उनका महाप्रस्थान' के साज-शृंगार में जिन सुधी विद्वानों की कृतियों से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में सहायता ली गई है, लेखक उन सबके प्रति अपना आभार अभिव्यक्त करता है।

विश्वास है कि 'नरेश मेहता और उनका महाप्रस्थान'—छात्रों और पाठकों के लिए पूर्ण रूप से सहायक और उपयोगी सिद्ध होगी।

विनीत :

कृष्णदेव शर्मा

विषय सूची

प्रगुणा श्री

श्री नरेश मेहता : साहित्यक व्यक्तित्व

श्री नरेश मेहता आधुनिक हिन्दी साहित्य में सर्वाधिक शिल्प-सजग कवि माने जाते है। उदात्त मानवीय विचारों और स्वस्थ सामाजिकता को व्यक्त करते हुए उन्होंने अत्यन्त सुन्दर कविताओं की सृष्टि की है। हिन्दी साहित्य में कवि का स्थान अथवा उसका महत्व समझने के लिये नयी कविता की पृष्ठभूमि, उसके दार्शनिक आधार एवं कलापक्ष पर दृष्टिपात करना उचित होगा।

आधुनिक काल के तृतीय सोपान — छायावाद युग में अनेक वादों का साहित्य मे प्रचलन हो गया था। प्राय: सभी कवियों ने समकालीन परिस्थितियों और अपने व्यक्तित्व के अनुरूप किसी न किसी दर्शन को अपने साहित्य का आधार बनाया था। तत्कालीन साम्राज्यवादी शोषण, आर्थिक वैषम्य एवं सामाजिक आतंक से त्रस्त कवि दार्शनिकता का आवरण ओढ़कर अपनी भावनाओं को व्यक्त करने लगे, इस धारा के कवियों की रचनाओं को छायावाद, रहस्यवाद, हालावाद, पलायनवाद, व्यक्तिवाद आदि संज्ञाओं से अभिहित किया गया। किन्तु महायुद्ध के पश्चात् विश्वभर में जो आर्थिक, राजनीतिक एव सामाजिक परिवर्तन आये, उनसे पलायन की वृत्ति समाप्त हुई और जीवन-संघर्षों की चुनौती को स्वीकार करते हुए कवियों ने क्राति के गीत लिखने प्रारम्भ किये। पहली धारा में आत्मा, परमात्मा, प्रेम-सौन्दर्य, भावात्मकता तथा सगीतात्मकता का अशरीरी सौन्दर्य था तो दूसरी धारा में जीवन-सघर्ष की वास्तविकता मुखरित हो उठी। कलात्मक सौन्दर्य तथा भावोत्कर्ष की दृष्टि से छायावादी काव्य हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है तो जीवन की वास्तविकता को वाणी देने के कारण प्रगतिवाद को सम्मानित स्थान प्राप्त हुआ।

सन् १९४३ में प्रथम 'तार सप्तक' का प्रकाशन हुआ, इसमे सर्वश्री गजानन मुक्तिवोध, नेमिचन्द, भारत भूषण, प्रभाकर माचवे, गिरिजा कुमार माथुर, रामविलास शर्मा तथा अज्ञेय की कविताओं का संग्रह था। इसका सम्पादन स्वयं श्री अज्ञेयजी ने किया था। इन्ही कविताओं से हिन्दी में एक नवीन काव्यधारा प्रयोगवाद का प्रारम्भ माना जाता है। कुछ विद्वानों ने इसे नई कविता की संज्ञा दी। वस्तुत: पश्चिमी साहित्य तथा जीवन दर्शन से प्रभावित इस काव्यधारा में पूर्ववर्ती काव्यधारा का विरोध प्रकट हुआ, इसमें एक ओर अतिशय वैयक्तिकता का वढ़ावा है तो दूसरा ओर प्रगतिवादी सामाजिक यथार्थ की अनुभूति का विरोध प्रकट हुआ है। वर्तमान युग विज्ञान

युग है, वैज्ञानिक दृष्टि से मानव के शरीर और मस्तिष्क तन्त्र का विश्लेषण करना प्रयोगवाद का मुख्य लक्षण है। मानसिक भावनाओं का विश्लेषण करते हुए कवि तन्त्र-तन्त्र के नवीन प्रयोग करते हुए उन सबको कविता में उतारने का प्रयास करता है। प्रयोग की इसी प्रधानता के कारण इस काव्यधारा को प्रयोगवाद कहा गया।

'तारसप्तक' के पश्चात् प्रयोगवादी कविता के विकास-क्रम मे 'प्रतीक' पत्रिका का विशेष स्थान रहा। सन् १९५१ मे दूसरा 'तारसप्तक' प्रकाशित हुआ। इसमें सर्वश्री भवानीप्रसाद मिश्र, शकुन्तला माथुर, हरिनारायण व्यास, शमशेर बहादुर सिंह, नरेश मेहता, रघुवीर सहाय और धर्मवीर भारती की कविताओं का संग्रह किया गया। 'पाटल' और 'दृष्टिकोण' जैसी मासिक पत्रिकाओं ने भी प्रयोगवादी काव्य की अभिवृद्धि मे पर्याप्त योगदान दिया। सप्तक परम्परा के अतिरिक्त भी अनेक कवि इसी प्रकार के काव्य की सृष्टि कर रहे थे, जिनमे केदारनाथ सिंह, सर्वेश्वर एवं राजेन्द्र यादव के नाम उल्लेखनीय है। प्रयोगवादी काव्यधारा की समग्रता का कुछ कवि तो प्रगतिवाद के रूप का त्याग न कर सके। प्रयोगवाद काव्यधारा की समग्रता सर्वश्री अज्ञेय, प्रभाकर माचवे, नेमिचन्द, गजानन मुक्तिबोध, शमशेर, भारत भूषण, गिरिजा कुमार माथुर, धर्मवीर भारती एवं नरेश मेहता के काव्य मे देखी जा सकती है।

प्रयोगवादी काव्यधारा मे सर्वाधिक शिल्प सौन्दर्य की दृष्टि से सजग श्री नरेश मेहता का जन्म सन् १९१२ ई० मे एक सामान्य परिवार मे हुआ। जीवन की विभिन्न विषमताओ से संघर्ष करते हुए आपने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से एम० ए० किया। इनकी बहुमुखी प्रतिभा से हिन्दी साहित्य को कविता, नाटक, कहानी, उपन्यास आदि की अनेक विधाये प्राप्त हुई, जिनमे श्री नरेश मेहता के सरल गम्भीर, कल्पनाशील किन्तु विचारक व्यक्तित्व की सहज अभिव्यक्ति हुई है। वैसे तो इन्होने सन् १९३६ से ही लिखना प्रारम्भ कर दिया था, किन्तु प्रारम्भिक कृतियो मे उनका छायावादी अथवा रहस्यवादी रूप ही प्रमुख रहा है। आगे चलकर कवि ने उन सभी कृतियों को इसलिये नष्ट कर दिया क्योंकि उनकी दृष्टि मे उन सबको कविता कहना उचित नही था। सन् १९५१ मे जब दूसरा 'तारसप्तक' प्रकाशित हुआ तो श्री नरेश मेहता को साहित्यिक वातावरण मे सम्मानित स्थान प्राप्त हो चुका था।

श्री नरेश मेहता का काव्य के प्रति दृष्टिकोण ही उनकी नवीनता व सबलता का परिचायक है। कवि का विश्वास है कि काव्य सांस्कृतिक नवनिर्माण का साधन है और जीवन मे नई ऊर्ध्वमुखी चेतना उत्पन्न करता है। वे लिखते है कि "हम मनुष्य के आदिकाल के काव्य से भावो की विराट्ता ग्रहण करके सुन्दर कल्पना प्रधान साहित्य रच सकते है।" दूसरा सप्तक मे उपस 'जन-

गरवा', 'उषस-अश्व की वलगा', 'तीर्थजल', 'तृषा, मेघ में' 'दिवस श्रमिक' आदि रचनाओं में कवि की जीवन-दृष्टि और कल्पना-शक्ति का भली प्रकार प्रतिपादन हुआ है। धरती एवं मानवता के प्रति कवि का प्रेम, समाज के उज्ज्वल भविष्य के प्रति गहन आस्था और विश्वास तथा व्यापक सामाजिकता मे लीन होने की उत्कट आकाक्षा को भली प्रकार देखा जा सकता है। उदाहरणतया—

'समयदेवता आज विदा दो
किन्तु तुम्हारे रेशम के इस चमक वस्त्र में
मिट्टी का विश्वास बांधकर भेज रहा हूं
मेरी धरती पुष्पवनी है
और मनुज की पेशानी की चरागाह पर
दौड़ रही हैं तूफानों की नई हवाएं"

श्री नरेश मेहता ने अनेक रूमानी कविताओं की भी सृष्टि की है। इनमें कवि के प्रणयी हृदय की सहज स्वच्छ अभिव्यक्ति हुई है। प्रेमाभिव्यक्ति के लिये प्रकृति के सहज सौन्दर्य को आधार बना कर की गयी सृष्टि की झलक निम्नलिखित पक्तियों मे देखी जा सकती है। जैसे—

"चाहता मन, तुम यहीं बैठी रहो।
उड़ता रहे चिड़ियों सरीखा, वह तुम्हारा श्वेत आंचल।"

× × ×

"गोमतीतट
दूर पेंसिल रेख-सा वह बांस का झुरमुट
शरद दुपहर के कपोलों पर उड़ी वह धूप की लट
जल के नग्न ठंडे वदन पर दुहरा झुका
लहर पीना चाहता है।"

इस प्रकार 'दूसरा सप्तक' मे संग्रहीत कविताओं में श्री नरेश मेहता का कवि रूप अपने सुन्दर और प्रभावशाली रूप मे प्रकट हुआ है। समृद्ध कल्पना, स्वस्थ विचार, सजग शिल्प-सौन्दर्य, बिम्ब-विधान आदि सभी दृष्टियो से उनमे एक युगान्तरकारी कवि की झलक मिलती है।

'संशय की एक रात' नरेश मेहता की महत्वपूर्ण रचना है। भारतीय जीवन, धर्म, संस्कृति और दर्शन के आदर्श मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्री रामचन्द्र के जीवन को एक नवीन रूप मे चित्रित किया गया है। 'संशय की रात' मे राम के पौराणिक अथवा ऐतिहासिक स्वरूप को समकालीन समस्या संकुल मानव के रूप मे चित्रित किया गया है। इस कृति की मुख्य समस्या है युद्ध और शांति। युद्ध व्यवहार की मजबूरी है जबकि शांति विवेक का स्वप्न मात्र है। राम युद्ध अथवा शांति की दुविधा मे ग्रस्त है जबकि लक्ष्मण और हनुमान आदि युद्ध को

था, उस समय श्री नरेश मेहता ने अपनी क्रांतिकारी भावनाओं की अभिव्यक्ति इस रचना में की है।

आपातस्थिति में तानाशाही प्रवृत्तियों की भीषणता से सम्पूर्ण समाज पर विवशता छाई हुई थी किन्तु श्री नरेश मेहता की लेखनी स्वतंत्र रूप से आने वाले कल की विभीषिका का चित्रण कर रही थी। कवि के शब्दों में, "आज जिस राजनीतिक संक्राति से हम गुजर रहे हैं उसमें प्रशासक और राज्य व्यवस्था अकृत शक्तिशाली है। जीने का संकट तथा संभावनाएं बढ़ गयी हैं अतः काव्य का दायित्व भी बढ़ गया है ताकि मानव मुक्ति के संघर्ष में अपना सहयोग दे सके।"

'महाप्रस्थान' की कथावस्तु पात्रों के चरित्र-चित्रण, संवाद तथा सम्पूर्ण कृति का प्रतिपाद्य कवि के उपरोक्त कथन की पुष्टि करता है। सत्ता जब मदान्ध हो जाती है तो दुर्योधन, दुःशासन तथा शकुनि आदि के अत्याचार, शोषण, छल, कपट आदि बढ़ जाते हैं। शासक (धृतराष्ट्र) अन्धा होकर शोषण तथा शोषकों को प्रश्रय देता है। विदुर जैसे निष्पक्ष विचारकों की उपेक्षा की जाती है। भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य जैसे विद्वान और वीर विवशत्ता से सता की सेवा स्वीकारते हैं। समाज और परिवार की मर्यादा द्रौपदी अपमानित होती है, पाण्डवों को राज्यच्युत होकर वन-वन में भटकना पड़ता है। 'महाप्रस्थान' के निम्नलिखित प्रसंग में भारतीय राजनीति की सजीव, सटीक झलक देखी जा सकती है :—

"आज, नहीं तो कल
राजा से भी कठोर हो जाएंगे
ये राज्य
और सुदूर भविष्य में
राज्य से भी अधिक अमानवीय हो जाएंगी
ये राज्य-व्यवस्थाए
इनके दो आधार स्तम्भों—
युद्ध और आतंक
जिनका शिलान्यास
मनुष्य की आदिम प्रवत्तियां
बारम्बार करती आयी हैं
एक दिन
युद्ध और आतंक ही
सामाजिकता के पर्याय बन जाएंगे।"

राज्य सत्ता निरंकुश हो जाये तो समाज जीवन में दुखों की विभीषिका बढ़ती है। शासन के नियम शासक के स्वार्थ से नही समाज की स्वतंत्र

बौद्धिकता से निर्मित होने चाहिये, इसीलिये युधिष्ठिर के मुख से कवि अपने भावों को प्रकट करता है :

"राज्य ही नहीं
धर्म के नियमों पर समाज आधारित है
राज्य पर अंकुश बने रहने के लिए
धर्म और विज्ञान को
स्वतन्त्र रहने दो पार्थ
अन्यथा यह समाज
रहने के योग्य नहीं रह जाएगा
किसी भी व्यक्ति को
इतना प्रतिष्ठापित मत करो कि
शेष सबके लिए
वह अलंघ्य हिमाचल हो जाए।"

वस्तुत. किसी भी स्वतंत्र समाज के प्रजातन्त्रीय शासन के विकासमूल आधार यही सिद्धान्त है। इनकी अवहेलना होने पर समाज अशान्त, असंतोष तथा अस्थिरता का शिकार हो जाता है। श्री नरेश मेहता ने अपने राजनीतिक विचारो को भी दार्शनिकता के आधार पर व्यक्त करने मे सफलता पाई है। 'सशय की एक रात' मे राम के जीवन को आधुनिकता के सदर्भ मे चित्रित किया गया था तो 'महाप्रस्थान' में महाभारत की कथा तथा उसके पात्रो को नवीन जीवन दृष्टि के अनुसार प्रस्तुत किया गया है। अपने पौराणिक अथवा ऐतिहासिक जीवन मे समग्र जीवन की समस्याओ का समाधान ढूढने मे श्री मेहता जी को विशेष सफलता मिली है। इस सभी विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वर्तमान समस्या सकल जीवन को भी अपने इतिहास और संस्कृति के माध्यम से दिशा-बोध कराने वाले कवियो मे श्री नरेश मेहता का प्रमुख स्थान है। बुद्धिवादिता, भावात्मकता, आदर्शवादिता, यथार्थता आदि को अपनी प्रतिभा और कल्पना से सुन्दर, मोहक तथा आकर्षक अभिव्यक्ति देने मे श्री मेहता कदाचित् आधुनिक कवियो मे अग्रगण्य ही कहे जा सकते है।

महाप्रस्थान : कथानक

श्री नरेश मेहता 'दूसरा सप्तक' के कवि तथा नयी पीढी के कवियो मे सर्वाधिक शिल्प-सजग कवि है। व्यापक सामाजिक विचारों, उदात्त कल्पनाओं, प्रकृति प्रेम तथा कला सौष्ठव की दृष्टि से नयी पीढी के कवियो मे उनका स्थान मूर्धन्य है। उनकी कृतियों मे मानवता के प्रति प्रेमभाव, उज्ज्वल भविष्य के प्रति गहन आस्था, अतीत गौरव में भी वर्तमान जीवन की सामयिक एवं

शाश्वत समस्याओं का अनुसंधान एवं जीवन की वास्तविकताओं के प्रति झुकाव आदि के कारण उनके काव्य की भावभूमि अत्यंत व्यापक है। 'उपस', 'जन गरवा', 'तीर्थजल', 'मेंघ मिथुन' एवं 'समयदेवता' आदि कृतियों में कवि के भावक्षेत्र के उत्तरोत्तर विकास को देखा जा सकता है। 'महाप्रस्थान' कवि की नवीनतम कृति है, जिसमें कवि ने 'महाभारत' में वर्णित पाण्डवों के स्वर्गारोहण की गाथा को अपनी कल्पना एवं चिन्तन की गम्भीरता को समन्वित करके एक नवीन आयाम प्रदान किया है।

'महाभारत' के प्रणेता के अनुसार युद्ध में विजयी होकर पाण्डवों ने राज्य प्राप्त किया किन्तु धर्मराज का मन असंख्य वीरों की मृत्यु के कारण खिन्न हो गया। अपने ही परिजनों-सम्बन्धियों के विनाश का कारण स्वयं को मानकर युधिष्ठिर पश्चाताप की अग्नि से संतप्त रहने लगे। सांसारिक सुख, वैभव और सत्ता से विरक्त होकर निर्वाण प्राप्ति के लिए स्वर्गारोहण करते हैं। हिमालय की उसी यात्रा में सभी पाण्डव एवं द्रौपदी हिम-समाधि में विलीन हो जाते हैं, शेष रह जाते हैं युधिष्ठिर और श्वान के रूप में स्वयं धर्मराज। अन्त में देवताओं द्वारा युधिष्ठिर का स्वर्ग के द्वार पर स्वागत होता है और युधिष्ठर अपने एकमात्र सहयात्री के साथ स्वर्ग में प्रविष्ट होते हैं। श्री नरेश मेहता ने उसी धर्मप्रधान कथा तथा उसके पात्रों को एक नवीन दृष्टि से कथाबद्ध किया है। इसमें तीन पर्व हैं—यात्रा पर्व, स्वाहा पर्व एवं स्वर्ग पर्व। कथा का सारांश इस प्रकार है—

धर्मराज युधिष्ठिर अपने अनुजों तथा भार्या के साथ संसार त्याग करके हिमप्रदेश में बढते जा रहे हैं। चारों ओर केवल हिमाच्छादित पर्वत श्रेणियां दृष्टिगोचर हो रही थी, वनस्पतियों की विविधता, चेतन जगत की क्रीडायें अथवा संघर्ष सभी कुछ विलीन हो चुका था केवल वायु की ध्वनि ही सुनाई पडती थी, ऐसे समय में युधिष्ठिर के चिन्तनशील मन का कवि ने अत्यन्त प्रभावी चित्रण किया है। सृष्टि की बहुविध रूप, रस, गंध, शब्द तथा स्पर्श की सामग्रियां पीछे छूट चुकी थी, वसन्त वैभव से आपूर्ण जंगल, धनधान्य से लहराते खेत, नानाविध पुष्पों, वनस्पतियों से भरी उपत्यकायें, रंगबिरंगे रूप वाले पक्षियों के झुंड सभी कुछ छूट चुके थे। सांसारिकता का बोध कराने वाले सभी उपकरण विलीन हो चुके थे। चारों ओर हिममण्डित पर्वत शिखर अपनी धवलता परिव्याप्त कर रहे थे। ऐसे समय में युधिष्ठिर के समक्ष केवल एक ही मार्ग था आगे बढना, लक्ष्य प्राप्ति तक चलते जाना। कवि ने उस स्थिति का चित्रण करते हुए लिखा है :—

"हिम केवल हिम
केवल चलना।
इस कठोर, ठंडी तापस प्रशान्तता पर

> केवल चलना ऊर्ध्व
> ऊर्ध्वतम ही है चलना
> जैसे पृथ्वी चलकर गौरीशंकर बनती।"

इस पर्व में कवि ने युधिष्ठिर के चिन्तनशील व्यक्तित्व का प्रभावी चित्रण किया है। प्रकृति के विविध रूपों, जीवन और जगत् के क्रियाकलापों का स्मरण करते हुए धर्मराज स्वर्गारोहण के पथ पर बढ़ते जाते हैं। हिमालय के ललाट पर लिखी उत्तर दिशा उनका गन्तव्य थी और 'चरैवेति' सिद्धान्त का सम्बल लेकर वे बढ़ते जाते थे। यहां आकर युधिष्ठिर जिज्ञासु बन जाते हैं। आखिर वह कौन सी शक्ति है जो मानव को यात्रा का आमन्त्रण देती रहती है। हिम की विराटता में आदिमता विलीन हो जाती है, तीव्र गति से प्रवाहित हिमनदियां इतिहासों पर अट्टहास करती हैं, ऐसा प्रतीत होता है मानो देवाधिदेव भगवान शंकर की जटाओं से प्रवाहित नदियों और प्रपातों की स्वरलहरी उन्हीं का स्तवन कर रही हो। इस दृश्य को देखकर युधिष्ठिर अपने को समझाते हैं कि —

> "अब केवल संकल्प छोड़कर
> पाण्डवदल के पास
> नही कुछ अन्य सम्पदा
> मृत्युलोक की।"

इसीलिये संकल्पी यात्रा पर चलते हुए धर्मराज रुकते नही, उनका गतिशील चिन्तन राज्य, सत्ता, युद्ध, नियति, कालचक्र, धर्म, मानवी संस्कृतियों और जीवन के अन्तिम लक्ष्य आदि पर विचारमग्न रहता है और इसी भाव भूमि में—

> "पतली पिपीलिका-रेखा सा चलता
> नतशिर वन्दी-सा
> पाण्डव दल।"

श्री नरेश मेहता ने पाण्डवदल को पौराणिकता के घेरे से निकाल कर मानवीय भावनाओं से पूर्ण, समसामयिक एव शाश्वत समस्याओ के प्रतीक रूप मे प्रस्तुत किया है। धर्मराज "इस पाण्डवता के पुण्य और करुणा विवेक है।" अनासक्त मत्यों तथा मानवी उदात्तताओ के पूजीभूत धर्मराज सुख-दुख, आग्रह, त्याग, नैतिकता, अनैतिकता, गौरव, अपमान आदि परस्पर भावनाओं से युद्ध करते-करते आज निर्विकार भाव से स्वर्गारोहण के पथ पर अग्रसर है। भीम इस पाण्डवता की देह है। जो कभी युद्ध मे पराजित न हुआ, सदा पुरुषार्थ पथ पर ही चला, वही भीम विवश सा होकर चल रहा है- कवि के शब्दो मे—

> "जो न युद्ध में कभी पराजित
> वही भीम

जर्जर वल्कल औ फटी चर्मपादुका पहने
विकलांगों से पैर घिसटते
चले आ रहे
आदि बर्बर मानव जैसे।"

द्रौपदी "वलिपशु सी आवद्ध" शेष भाग में घिसटती आ रही है। जिसके गाण्डीव की टंकारमात्र से शत्रु दहल जाते थे वही अर्जुन अपने थके हुए शरीर तथा धनुष की प्रत्यंचा को ढीली करके चल रहा है। नकुल-सहदेव पाण्डवता की मौन मिथुन छाया के समान हैं। इन सबको देखकर धर्मराज के हृदय में अनेक प्रकार के प्रश्न उठते हैं। बीते जीवन की स्मृतियाँ चलचित्रों के समान सामने आने लगीं। सध्या काल निकट आया, हिम वर्षा तीव्र हुई, द्रौपदी भोजपत्र का सहारा लेकर खड़ी थी, और विगत की स्मृतियों में खोये हुए युधिष्ठिर के समक्ष आगत की विभीषिका साकार होने लगी। जीवन का अन्त निकट जानकर द्रौपदी भी चिन्तनमग्न हो गयी। जीवन भर सुख-दुख, मान-सम्मान के साथ ही अपमान के क्षणों की स्मृति, पांच पतियो की मर्यादा द्वारा पतियों के प्रति अपने व्यवहार, कृष्ण, कर्ण, दुशासन, कीचक आदि के प्रसंगों की याद करती है, एकाएक द्रौपदी की पुकार "पार्थ ! पार्थ ! तुम कहाँ पार्थ !" के साथ ही यात्रा पर्व समाप्त होता है।

'महाप्रस्थान' का दूसरा पर्व 'स्वाहापर्व' है। दार्शनिक चिन्तन. उद्देश्य की गरिमा और नाटकीयता की दृष्टि से यह पर्व महत्वपूर्ण है। इसमे विभिन्न पात्रों के कथोपकन तथा प्रकृति-चित्रण द्वारा कवि ने जीवन और जगत् के विविध पहलुओं पर अपने विचार प्रकट किये हैं। 'महाभारत' में जिस क्रम से पाण्डवों के गलने तथा मृत्यु के साथ ही धर्मराज द्वारा उसके चरित्र का विश्लेषण किया गया है, कवि ने उसी क्रम को लेकर अपनी कल्पना तथा चिन्तनशीलता से मण्डित करके एक मौलिक प्रयोग किया है।

द्रौपदी सुपर्ण भोजपत्र के नीचे हिमराशि मे घिर जाती है, आसन्न मृत्यु का आभास पाकर पार्थ को सहायता के लिये पुकारती है। धर्मराज उसे समझाते हैं कि :—

"पार्थ
या किसी को पुकार कर क्या होगा ?
ऊर्ध्वता पर पहुँचकर
सारी सामूहिकता
वैयक्तिकता में परिणत हो जाती है।"

यात्रा पुकार नहीं होती और न ही पुकारते हुए यात्रायें होती है। जीवन के इस प्रसंग पर किसी को पुकारने का लाभ नही, यह हिमपथ ही धर्मपथ मे परिणत हो रहा है और धर्मपथ किसी प्रकार के आच्छादन को स्वीकार नही करता।

सिमट के जल, प्रतिक्रियाओं को स्मृति सभी को त्याग दो, उठो आगे बढ़ो, इसके पश्चात् कि पति तथा पत्नियाँ के पर्वांचल गया में गिर दब जायँ, अपने अन्तर के देवात्मा हिमालय की दिशा देवभूमि की ओर बढ़ो। धर्मराज की आवाज सुनकर द्रौपदी जीवन के विविध प्रसंगों का स्मरण करती है, नारी जीवन के अपने मातृत्व और नारीत्व की व्यथा देखकर उसका हृदय कराह उठता है। उसी समय अश्वत्थामा का अट्टहास गूंज उठता है। कल का मेधावी महासेनापति गोदी, उसका ना अभिशाप ढोता हुआ द्रौपदी से भिक्षा मांगता है। अश्वत्थामा के तीव्र व्यंग्य से आहत द्रौपदी का मन करुणा एवं पश्चाताप से विगलित हो जाता है। इसी परिस्थिति में द्रौपदी हिमनद में बह जाती है, वातावरण में उनका आर्त स्वर ध्वनित होता रह जाता है।

द्रौपदी के आर्तस्वर को सुनकर अर्जुन भागा किन्तु अपनी प्राणप्रिया को बचा न सका, उसका शक्तिशाली तेजस्वी व्यक्तित्व, गाण्डीव की गरिमा तो विगत हो चुकी थी। अर्जुन दुःखी मन से अपने व्यक्तित्व के सहचर को विदा करता है। भीम द्वारा प्रश्न किये जाने पर युधिष्ठिर ने उसे सांसारिकता की संज्ञा देकर उसके व्यक्तित्व को विभाजित स्वीकार किया। हिमपथ तो धर्मपथ है और उस पथ पर चलने में समर्थ वही हो सकता है जिसका व्यक्तित्व अविभाजित हो। धर्मराज का विश्वास था कि :—

' विभाजित व्यक्तित्व
वह किसी का भी हो
धर्म नही स्वीकार किया करता भीम।''

इस स्थल पर युधिष्ठिर और भीम के वार्तालाप में कवि ने दार्शनिक, राजनीतिक सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षो का प्रतिपादन किया है। यही आकर युधिष्ठिर अपने व्यक्तित्व को स्पष्ट करने का प्रयास करते है। युधिष्ठिर के शब्दो मे —

' भीम, मै राज्यान्वेषी नही,
मूल्यान्वेषी रहा हूं।''

इतना ही नही, वह स्पष्ट शब्दो मे घोषित करते है कि—

''करुणा मेरा धर्म है भीम,
किसी भी सम्बन्ध
साम्राज्य या शक्ति के सामने
मै इसे नहीं छोड़ सकता।''

इधर यह वार्ता हो रही थी तो दूसरी ओर नकुल और सहदेव हिम नद मे समा रहे थे। पाण्डवता के स्वरूप और ज्ञान को इस प्रकार नष्ट होते देखकर भीम, अर्जुन का मन भी विवशता एवं कातरता से आपूर्ण हो जाता है। अर्जुन के मन मे अनेक प्रश्न उठे और वह कह उठता है :—

"बन्धु !
व्यक्ति के पुरुषार्थ और संकल्प का
तब कोई अर्थ नहीं।"

पश्चाताप, ग्लानि तथा प्रिया की रक्षा न कर सकने की असमर्थता के कारण अर्जुन नाना प्रकार के प्रश्न करते हैं। धर्मराज प्रकृति, व्यक्ति, समाज, सांसारिकता आदि विषयों पर अपने विचार प्रकट करते हैं। युधिष्ठिर का विश्वास है कि :—

"वस्तुओं से हीन होते जाने का
अर्थ है
व्यक्तित्व से सम्पन्न होते जाना।"

दुर्ग, प्रासाद, स्मृति भवन चारण प्रशस्तियाँ तथा झूठे इतिहास से अमरता नहीं मिलती। वस्तुतः सारे मानवीय दुखों का आधार राज्य और राज्य व्यवस्था है, किन्तु इससे मानवीय उदात्तता और करुणा पर आवृत धर्म का प्रतिपालन नहीं हो सकता। राज्य के लिये युद्ध, षड्यन्त्र आदि के कुचक्र चलते रहते हैं। लोग इसे राजनीति कहते हैं किन्तु यह तो विषकन्या की आत्मजा है। जहाँ राज्य व्यवस्था को सर्वोपरि माना जाता है वहाँ तो यह पृथ्वी एक कारागार में परिणत हो जायेगी इसलिये व्यक्ति के निर्बाध विकास का आयोजन करना होगा, ऐसे साधन उपलब्ध करवाने होंगे जहाँ आर्थिक विषमता के कारण किसी मेधावी को दासता न करनी पड़े। किसी द्रोणाचार्य को अपनी मेधा किसी की सेवा में लगाने को बाधित न होना पड़े। भयमुक्त, अभारमुक्त जीवन की परिकल्पना से ही जीवन का कल्याण सम्भव है। और इसी प्रकार वार्तालाप करते-करते अर्जुन-युधिष्ठिर के वैचारिक सखा, पाण्डवता के मेरुदण्ड ने भी हिम समाधि ले ली। अब शेष थी पाण्डवता की देह भीम। प्रज्ञा अग्नि सा युधिष्ठिर प्रश्नोत्तर करने में असमर्थ, आने वाली घटना से परिचित मानों सब कुछ सह लेने को तत्पर थे। तभी भीम भी उस हिमनद में बहते चले गये। युधिष्ठिर सर्वथा एकाकी विराट् भाषाहीनता की स्थिति मे होकर भी धर्मपथ पर समर्पित होने को तत्पर आगे बढते जाते हैं और यहीं आकर दूसरा पर्व विश्रांति लेता है।

'महाप्रस्थान' का तीसरा पर्व स्वर्गपर्व है। युधिष्ठिर सर्वथा अकेले रह जाते है। सम्पूर्ण वातावरण की शांति उनके मानसिक चिन्तन को अवरुद्ध नही कर पाती। एकान्त चिन्तन ही स्तवन बन कर फूट पड़ता है जिस प्रकार वनस्पतियां हिम के पावित्र्य का स्पर्श पाकर हिममय हो जाती है उसी प्रकार युधिष्ठिर भी 'स्वाहायात्रा' पर बढते जाते है। काल पुरुष की लीला को स्वीकार करने को तत्पर, शास्वत वीणा से उठने वाले प्रणवस्वर को सुनने के लिए आतुर युधिष्ठिर स्वर्ग के सर्वथा निकट पहुँच जाते हैं। किन्तु स्वर्ग का द्वार खुलने पर भी यात्रा के अन्तिम छोर तक साथ निभाने वाले श्वान को छोड़कर

वहाँ जाने के लिए युधिष्ठिर तैयार नही होते। आखिर में स्वर्ग का उत्तर द्वार खुला और युधिष्ठिर उसमें अपने को समर्पित कर देते है। इस प्रकार महाप्रस्थान की कथा समाप्त होती है।

श्री नरेश मेहता की प्रस्तुत कृति अपने लघु आकार में जीवन और जगत के नानाविध रूपों, समस्याओ तथा प्रश्नों को समेटे हुए है। काव्यसौष्ठव की दृष्टि से यह एक मौलिक प्रयोग है जिसे भाव, भाषा तथा रचना की दृष्टि से हिन्दी का एक सफल खण्डकाव्य कहा जा सकता है।

चरित्र चित्रण : युधिष्ठिर

'महाप्रस्थान' प्रख्यात कथा के अंश पर आधारित खण्डकाव्य है। भारतीय साहित्य की अमर कृति 'महाभारत' के एक प्रसंग—पाण्डवों का स्वर्गारोहण को लेकर श्री नरेश मेहता ने प्रस्तुत खण्डकाव्य की सृष्टि की है, विश्व की समस्याओं को अनुभव करने वाले कवि ने अपनी कल्पना एवं प्रतिभा का सहारा लेकर अति प्राचीन एवं लोक-प्रसिद्ध कथा तथा उसके पात्रों को एक नये रूप मे प्रस्तुत किया है। वैसे तो किसी भी कृति के पात्र को कवि का मानस पुत्र कहा जाता है किन्तु इतिहास प्रसिद्ध पात्रों के चरित्र को सर्वथा बदल देना किसी भी कवि की सामर्थ्य से बाहर है। यही कारण है कि इतिहास प्रसिद्ध पात्रो का चित्रण करते हुए कवि उसके वास्तविक रूप को विस्मृत नही कर पाता। 'महाप्रस्थान' के नायक युधिष्ठिर का चरित्र इनका ज्वलत उदाहरण है।

संस्कृत काव्यशास्त्र मे प्रबन्ध काव्य के नेता अथवा नायक को धीरोदात्त धीरोद्धत, धीरललित तथा धीरप्रशान्त इन चार कोटियो मे रखा गया है। युधिष्ठिर की गणना भी धीर प्रशान्त नायकों में की जाती है। प्रस्तुत खण्ड-काव्य में युधिष्ठिर कथा का मुख्य पात्र है, कथानक की गति, विस्तार प्रभाव आदि सभी के केन्द्र बिन्दु युधिष्ठिर ही है। वस्तुतः युधिष्ठिर के रूप में कवि ने एक ऐसे चरित्र को प्रस्तुत किया है जो चिन्तनशील है, निस्पृह तथा मानवीय गुणों का पुंज है। इसी पात्र के माध्यम से कवि ने प्रकृति, जीवन, जीवन की गतिशीलता, धर्म, दर्शन, इतिहास, व्यक्ति, समाज, राजसत्ता, युद्ध, सत्य और असत्य आदि का व्यापक एव गम्भीर विवेचन किया है। मानवता के सभी गुणों से समन्वित, करुणा और विवेक युक्त मुक्तिकामी युधिष्ठिर के चरित्र को खण्डकाव्य के सीमित क्षेत्र मे भी पूर्णता देने मे श्री नरेश मेहता को पूर्ण सफलता मिली है।

महाभारत युद्ध के पश्चात् राज्य पाकर भी युधिष्ठिर का मन सांसारिकता मे रम न सका। पश्चाताप, ग्लानि और दुःख से करुणापूर्ण मन अनन्त शाति के लिये तड़प उठा, और सभी प्रकार के सांसारिक सुख-वैभव आदि को

त्यागकर मुक्तिपथ की ओर बढ़ चला। चारों ओर प्रकृति का राशि सौन्दर्य भी उसे मोहित न कर सका, दुर्गम पर्वत, उपत्यकायें उसके मार्ग को रोक न सकीं। वातावरण की घोर एकान्तिकता भी बाधा कैसे बनती जबकि, युधिष्ठिर के सामने केवल एक ही लक्ष्य था—

"केवल चलना
इस कठोर ठंडी तापस प्रशान्तता पर
केवल चलना ऊर्ध्व
ऊर्ध्वतम ही है चलना
जैसे पृथिवी चलकर गौरीशंकर बनती।"

इस प्रकार सभी प्रकार की बाधाओं को पार करते हुए युधिष्ठिर केवल यही कहते हैं कि—

"चलो
चलो यहां से धर्मराज
यह पड़ाव है नहीं
तुम्हारी संकल्पी यात्रा का।"

जिज्ञासु—संकल्पी यात्री युधिष्ठिर जीवन के प्रत्येक अंश में से किसी परमतत्व को खोजने में प्रयत्नशील दिखाई पड़ता है। उदार देवतात्मा हिमालय के शिखरों पर फैली हिमराशि, क्षण प्रतिक्षण परिवर्तित समय की गति, रात और दिन के चक्रों पर चलने वाला यह कालचक्र जिसके संकेत मात्र से ही विश्व का उत्थान-पतन होता रहता है, नाश और निर्माण की प्रक्रिया चलती रहती है, सम्पूर्ण सृष्टि जिसके शरीर के अंग-प्रत्यंग की आकर है, जो स्वयं अजन्मा होकर भी जन्मदाता है, अव्यक्त रह कर भी लीलाओं में व्यक्त होता रहता है उस प्रणव पुरुष को जानने की आकांक्षा इन शब्दों में व्यक्त होती है—

"एक सनातन प्रश्न
यज्ञ की धूमाग्नि सा शाश्वत उठना
है कौन नियन्ता
कार्य और कारण जिससे उद्भूत हो रहे ?"

इसी जिज्ञासु के माध्यम से कवि ने जीवन की व्यापक, गम्भीर विवेचना की है।

पाण्डवता के पुण्य—कवि ने युधिष्ठिर को पाण्डवता का पुण्य कह कर उनके व्यक्तित्व को जिस प्रकार प्रस्तुत किया है उसी से यह स्पष्ट हो जाता है कि युधिष्ठिर ही इस कथा के नायक हैं। पाण्डव दल चल रहा है, कवि के शब्दों में—

सबसे आगे है धर्मराज
इस पाण्डवता के पुण्य

और करुणा विवेक।
राजपाट कुलवंश, बन्धु बान्धवता के प्रति
नहीं रही आसक्ति
दूसरे विदुर !!

वस्तुतः युधिष्ठिर आसक्तिहीन ही नही, अपितु सत्यान्वेषी है, जो सम्पूर्ण मानवता मे अटूट विश्वास रखते है। जीवन भर कष्ट सहकर भी उन्होंने मानवी मूल्यों की कभी उपेक्षा नहीं की। वनवास को यातनाये सही, अपना सब कुछ हारकर अपनी ही आँखों के सामने पत्नी को अपमानित होते देखा, तात्कालिक धर्म की रक्षा के लिये युद्ध की विभीषिका को भोगा, राजसूय तथा अश्मेघ यज्ञ करके सम्मान भी प्राप्त किया किन्तु अन्तर का सत्य साकार न पाकर सब कुछ त्याग कर चल पड़ते है। हिमालय की छाया मे आन्तरिक शांति तथा अखण्ड आनन्द पाने के लिये अपनी आँखो के सामने पत्नी तथा भाईयो को एक एक कर हिम मे गलते भी देखा किन्तु वह तो सासारिकता से उन्मुक्त, विदेह थे, चरैवेती उनका मंत्र था, जिसका सहारा लेकर युधिष्ठिर तब तक बढते ही गये जब तक स्वर्ग के खुले द्वार मे प्रवेश करते हुए स्वय को स्वाहा नही कर देते। वस्तुतः पाण्डवता के पुण्य की पूर्णता दिखाना ही कवि का उद्देश्य प्रतीत होता है।

सहज मानव—युधिष्ठिर निरासक्त, विदुर, विदेह के समान पुण्यात्मा ही रहते तो शायद काल्पनिक बन कर जीवन से दूर जा पड़ते। लेखक ने उनमे पाण्डवों के दुर्भाग्य का स्रोत देखा है। सामान्य मानव के गुण-दोषों से युक्त युधिष्ठिर आजीवन धर्म का संकल्प निभाते रहे किन्तु विधि की विडम्बना ही तो थी कि उन्हे जुआ खेलना पड़ा, अपनी पत्नी को दाव पर लगाने का निंदनीय कार्य भी किया, इतना ही नही, अपितु युद्ध मे झूठ भी बोलना पड़ा। कवि ने युधिष्ठिर के मानवी चरित्र का चित्र इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

"युद्ध खण्डित
अन्तर का वह सत्य
अश्वमेध और राजसूय यज्ञों से भी
जब शोध न पाये
तब पुन. दांव पर लगा—
स्वत्व—
वल्कल पहने निकल पड़े
वश्वानर पथ पर
उसी धर्म का
जीर्ण शीर्ण सकल्प दण्ड

कंपते हाथों से टेक टेक कर
वृद्ध युधिष्ठिर बढ़े जा रहे
सुधियों स्मृतियों से आहत, वेष्टित।'

इन्हीं स्मृतियों की छाया लेकर कवि ने युधिष्ठिर के अन्तर्द्वन्द्व तथा उसके चिन्तन व्यक्तित्व का प्रतिपादन किया है। भीम के आहत तन और अपमानित मन में चलने वाली प्रतिहिंसा की आकुलता, अर्जुन के पुरुषार्थी कार्यकलापों, भीष्म, द्रोण, कृप आदि गुरुजनों की विवशता, असत्य पक्ष का साथ देने से उत्पन्न ग्लानि, नीतिवान विदुर की शालीनता, राज्यमद मे अन्धे दुर्योधन-शकुनी आदि की कुटिलता, श्रीकृष्ण के लीलामय जीवन, युद्ध की विभीषिका मे असंख्य वीरों का बलिदान, षड्यन्त्रों, अपमानों का प्रतिशोध लेने के लिये युद्ध किन्तु विजय पाकर भी पश्चाताप की अग्नि मे जलना आदि की स्मृतियों मे हृदय की पीड़ा ही प्रकट होती है। युधिष्ठिर का यह मानवीय रूप उसे सामान्य मानव जीवन का अंग बना देता है, इसके अभाव मे तो शायद युधिष्ठिर देव कोटि के पात्र ही मान लिये जाते।

दार्शनिक—युधिष्ठिर सत्यान्वेषी हैं, प्रत्येक घटना को विवेक की कसौटी पर परख कर उसका मूल्यांकन करते हैं। यही कारण है कि जीवन के प्रत्येक पहलू पर उनकी धारणा अत्यंत स्पष्ट है। राज्यसत्ता जब अभिमान में अन्धी हो जाती है तो कूटनीति उसका एकमात्र शास्त्र रह जाता है। अन्धी मर्यादाओं को मिटा देती है, जिसका परिणाम होता है भयंकर युद्ध, युद्ध जिसकी ज्वाला मे सभी कुछ जल कर भस्म हो जाता है और शेष रह जाता है—

"जागी उसके बाद
अघोरी कापालिकता—
विधवाओं का आर्तनाद
जीवितों का विषाद।"

युद्धों और प्रतिहिंसाओं की ज्वाला की स्मृति भी दुख देती है, इसीलिये युधिष्ठिर उनसे ऊपर उठते हैं, दूसरों को भी क्षमा करने की प्रेरणा देते हैं। द्रौपदी को सांसारिकता के मोहजाल से ऊपर उठने की प्रेरणा, भीम को सत्ता, अभिमान में विभाजित व्यक्तित्व को युग-जीवन के शाश्वत मूल्यों को खोजने की प्रेरणा देना, अर्जुन का प्रकृति के धर्म की शिक्षा देना, वस्तुओं से हीन होकर व्यक्तित्व को पूर्ण बनाने की प्रेरणा देना, राज्य, सत्ता, अभिमान, व्यक्ति, समाज, जीवन, मृत्यु और मोक्ष आदि के विषय में समझते हुए युधिष्ठिर एक गम्भीर दार्शनिक, सहज विचारक के रूप मे चित्रित किये गये हैं। उनका यह विवेचन पक्षपात रहित एवं तर्क पर आधारित है। राजा, राज्य तथा सत्ता यदि युद्ध और आतंक को प्रमुखता दे तो जीवन मे केवल वितृष्णा ही बढ़ती है। राज्य और समाज सम्बन्धी युधिष्ठिर के विचारों मे कवि की समकालीन

परिस्थितियां ही व्यक्त नहीं होती अपितु जीवन के शाश्वत मूल्यों की भी झलक मिलती है। उदाहरणतया--

"राज्य के नहीं
धर्म के नियमों पर समाज आधारित है।
राज्य पर अंकुश बने रहने के लिए
धर्म और विचार को
स्वतन्त्र रहने दो पार्थ।
अन्यथा यह समाज
रहने के योग्य नहीं रह जायेगा।

× × ×

धर्म का उत्स
राज्य में नहीं
व्यक्ति की प्रज्ञा में होता है
ऐसे वैश्वानरी व्यक्तित्व को
कैसे ही राज्य से
अधिक महत्व देना होगा पार्थ।"

और इसी प्रकार जीवन-मूल्यो पर विचार करते हुए, तदनुकूल आचरण करते हुए अन्त मे युधिष्ठिर उस स्थिति को प्राप्त होते हैं जहां पृथिवी चलते हुए गौरी-शंकर बनती है, व्यक्ति ससीमता को त्याग कर असीमता में विलीन हो जाता है। सत्यान्वेषी सत्य स्वरूप ही हो जाता है। सांसारिकता त्याग कर चलने वाले के लिये स्वर्ग के द्वार स्वतः खुल जाते है किन्तु उसमें अभिमान फिर भी नही आता। वह स्वय को स्वाहा करके पूर्णता को प्राप्त करता है। 'महाप्रस्थान' के प्रणेता ने युधिष्ठिर के चरित्र को उसी पूर्णता तक पहुंचाया है। वस्तुतः इसमे इतिहास प्रसिद्ध युधिष्ठिर के चरित्र को और भी उत्कर्ष मिला है।

चरित्र चित्रण : द्रौपदी

'महाप्रस्थान' की पात्र द्रौपदी महाभारत मे वर्णित द्रौपदी की अपेक्षा अधिक सजीव, सशक्त एव समस्या संकुला दिखाई देती है। भारतीय साहित्य मे आदर्श नारी, पतिव्रता स्त्री अथवा पच कन्याओं मे से एक मानी जाने वाली द्रौपदी का चरित्र नाना प्रकार की विपरीत प्रवृत्तियों का संगम सा दिखाई देता है। जिसके अमित सौन्दर्य ने बड़े-बड़े शक्तिपुंजो को आकृष्ट किया, जिसने कुन्ती के एक ही शब्द का अनुकरण करते हुए पांच पाण्डवों की पत्नी होना स्वीकार कर लिया, जो पाण्डवों के सुख-दुख मे सदा ही सहभागी रही, जिसके अपमान ने महाभारत का रूप धारण किया, जिसके खुले केशो को शत्रु-रक्त से सींचने

की प्रतिज्ञा करके महाबली भीम ने सौ कौरवों की । हत्या की उसी चिरप्रसिद्ध चरित्र को 'महाप्रस्थान' के प्रणेता ने एक नया रूप देकर प्रस्तुत किया है ।

श्री नरेश मेहता द्रौपदी का परिचय इस प्रकार देते हैं —

"पर सबके पीछे चली आ रही
पाण्डवदल की सांसारिकता
भार्या, प्रिया, सेविका
और पण्डिता
द्रुपदसुता
द्रौपदी
सेविका धर्मराज की
भीमसेन की चतुर स्वामिनी
एकनिष्ठ वह पार्थप्रिया
पाण्डवी........."

इस परिचय में द्रौपदी के बहुमुखी व्यक्तित्व की पूरी झलक मिल जाती है। कवि ने द्रौपदी का चरित्र-चित्रण करते हुए युधिष्ठिर के जीवन-दर्शन का सांसारिक पक्ष प्रतिपादित किया है। उसी में नारी-जीवन की आशाओं, आकांक्षाओं, उलझनों का भी सजीव चित्रण किया है । नारी का रागात्मक प्रवृत्तियों, सामाजिक नियमों तथा पुरुष के व्यवहार आदि के संघर्ष से उत्पन्न विडम्बनाओं आदि को यथार्थ रूप में प्रकट करते हुए कवि ने नारी के शाश्वत भाव-संघर्ष का प्रतिपादन किया है ।

पाण्डवदल की सांसारिकता—द्रौपदी हिमान्धियों में घिर गई तो युधिष्ठिर उसे आगे बढ़ने की प्रेरणा देते हैं। युधिष्ठिर समझाते हैं कि ऊर्ध्वता की ओर चलने वाले यात्री को मन ही नहीं तन का आवरण भी उतार कर समर्पित कर देना होता है। पुरानी स्मृतियों, घटनाओं की ग्रंथियां त्यागकर केवल शिव संकल्प ग्रंथी को पोषित करना होता है । मानव का व्यक्तित्व उसके व्यक्तित्व को घेरने वाली घटनाओं, युद्धों प्रतिहिंसाओं से स्थापित साम्राज्य, साम्राज्य में प्राप्त सुख, वैभव, विलास सभी कुछ तो नश्वर है, इन सबको स्मरण रखने का कोई लाभ नहीं । संसार के सभी प्रकार के आकर्षण प्रकृति के विभिन्न उपकरणों का आनन्द शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, प्रदान करने वाले नाना विध पदार्थ तो साथ नहीं चलते, इसलिये सबको छोड़कर, भूलकर उस अज्ञात ऊर्ध्वता की ओर

चलना चाहिये । किन्तु युधिष्ठिर की यह वाणी सुनकर मन मे यह समझते हुए भी कि इस मानसिक सुख की स्मृति व्यर्थ है, द्रौपदी स्मृतियो का त्याग न कर सकी । क्योंकि वह रागात्मिका थी, समाज ने उसे पुरुष की आश्रिता बनाया, किन्तु पुरुष न तो उसको अपमान से बचा सका, न ही उसकी रागात्मकता का स्पर्श कर सका । अपने पौरुष का प्रदर्शन करने के लिये पुरुष पाताल का भेद कर सका, समस्त संसार को चुनौती दे सका, किन्तु अपनी पत्नी के लिये कुछ न कर सका । भला इस प्रकार के उपदेश उसके मन को प्रेरित कैसे कर पाते ।

सहज नारी—द्रौपदी के चरित्र को एक सहज सामान्य नारी के रूप मे चित्रित करते हुए कवि ने उसके अन्तर्द्वन्द्व, पारिवारिक और सामाजिक मर्यादाओं की जकडन, पग-पग पर होने वाले अपमान और उसमे अपनी विवशता की अनुभूति द्रौपदी के जीवन को यथार्थ नारी के रूप मे प्रस्तुत करदी है। हिमान्धियो के आघात से जीर्ण शीर्ण वस्त्र, हवा, हिम की शीतलता और मीलो तक फैला हुआ दुर्गम पर्वतों का एकान्त अंधेरा और उस सन्नाटे मे अपने पतियों के पदचिन्हो का केवल आभास पाती हुई द्रौपदी समझ चुकी थी कि कुछ समय के पश्चात् क्या होने वाला है । मृत्यु की आसन्न छाया मे गत जीवन की स्मृतिया एक-एक कर जागने लगी । इन्ही स्मृतियो के अन्त संघर्ष मे द्रौपदी के जीवन की विडम्बनाओ को साकार किया गया है ।

स्वयंवर हुआ था, कन्या को वर चुनने का अधिकार अथवा किसी कार्य विशेष को कर सकने वाला ही पति हो सकेगा । समाज की उदार व्यवस्था मे भी नारी का मनचाहा कहा होता है । कृष्ण सभी के सम्मान अथवा श्रद्धा के पात्र थे, कर्ण वीर होकर भी सूतपुत्र होने के नाते स्वयंवर मे भाग न ले सके । समाज मे ऊँच-नीच का भेद विषमता का जाल सभी को उलझाता है । ब्राह्मण वेशी पार्थ वरण करता है किन्तु विधि की विडम्बना, द्रौपदी को पाच पतियो की पत्नी होना पड़ा । इसके पश्चात् तो दुखों, आपदाओं की एक न टूटने वाली शृंखला ही चल पड़ी । नारी को कोई अधिकार नही, धर्म और समाज के नियम उसके व्यक्तित्व को जकड़ देते हैं ।

स्मृतियो की छाया में जीवन का वह क्षण भी याद आया जब रजस्वला द्रौपदी को दु:शासन खीच कर सभा मे लाया और दुर्योधन ने उसे अपनी जंघाओ पर बैठाया । सम्पूर्ण कौरव समाज, परिवार के गुरुजन भीष्म, द्रोण

तथा कृपाचार्य आदि के सामने, पांचों पतियों की उपस्थिति में नारी का ऐसा अपमान किन्तु प्रतिवाद करने की क्षमता किसी में नहीं। अन्धी राज्य सत्ता के सामने—

"इतना अपमान
व्यक्ति को वस्तु बनाया ?
पण्य हो गयी
प्रियावदी कृष्णा
इस भरी सभा में ?"

द्रौपदी याद करती है अपने पतिओं की वीरता तथा कायरता। कौरवों की कुटिल नीति के सामने सदा ही हारने वाले धर्मराज को कभी क्रोध भी न आया। वस्तुतः द्रौपदी अपने पतियों के गुण-दोष, स्वभाव आदि को भली प्रकार जानती थी। उसका नारीत्व तो सदा प्यासा रहा, उसके मन का आक्रोश इतना बढ़ गया कि कौरव और पाण्डव उसी में भस्म हो गये किन्तु उसका अतृप्त मन तृप्त न हो सका। कवि के शब्दों में—

"धर्मराज में साधु,
चरण सेवा के कांक्षी
भीम, वीर
पर छू न सके पत्नी की रागात्मकता
नकुल और सहदेव
कृपा के पात्र
किन्तु
हां, पार्थ न होते
तो अपूर्ण ही रह जाती मैं।"

जीवन में असंख्य आपदाओं को सहते-सहते द्रौपदी वास्तविकता को प्रमुखता देने लगी। धर्मराज द्रौपदी को उपदेश देते हैं कि—

"सारे वर्ण गन्ध।
जब मन पर से भी उतर जाते हैं
तब अन्तर के
देवतात्मा हिमालय की
श्वेत देवभूमि जाग्रत होती है कृष्ण।

निर्भय होना ही हिमालय होता है
और
अनासक्ति ही स्वर्ग है
हिमालय की आत्मा है ।"

द्रौपदी, इस संकल्प द्रौपदी उसे जो उत्तर देती है उसमें नारी-जीवन की वेदना साकार हो उठी है—

"लो
मैं अपने भीतर की
इस धधकती गुफा को
सदा के लिए मूंदकर
इसकी ताली
अंधकार में फेंक रही हूं
सुनी ?
तुमने उसकी आवाज सुनी महाराज !
सम्भवतः मैंने भी नहीं सुनी
अन्य संकल्पो की भांति ।"

पुरुष नारी की परीक्षा लेकर उसे हर समय शंका की दृष्टि से देखे तो उसे प्रेम कैसे मिल सकता है । द्रौपदी की हिम परीक्षा, सीता की अग्नि परीक्षा दोनो ही पुरुष के अविश्वासी मन की साक्षी है । द्रौपदी की मान्यता है कि—

"प्रत्येक ऐसी परीक्षा
पत्नी के प्रति अविश्वास ही है
और ऐसी परीक्षा के बाद
नारी
पुरुष के लिए अप्राप्य हो जाती है ।"

इसी प्रकार सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षो पर द्रौपदी के माध्यम से कवि ने अपने विचार व्यक्त किये है । 'महाप्रस्थान' में कथा का जो प्रसंग लिया गया है उसमें द्रौपदी के चरित्र का पूर्ण विकास सम्भव न था, किन्तु श्री नरेश मेहता ने अत्यन्त सीमित क्षेत्र मे भी स्मृतियो तथा अन्तर्द्वन्द्व का आश्रय लेकर द्रौपदी के चरित्र की पूर्णता प्रदर्शित करने मे सफलता प्राप्त की है ।

महाप्रस्थान : प्रकृति-चित्रण

ज्ञान और चेतना के उदयकाल से ही मानव-हृदय प्रकृति के प्रति संवेदनशील रहा है। प्रकृति सौन्दर्य का अवलोकन करके आदि मानव विस्मय-विमुग्ध हो उठा था, प्रकृति के सहवास, निरीक्षण, परीक्षण से मानव अनुभूतियों का परिष्कार हुआ। प्रकृति मे अपने सुकुमार मनोभावों तथा प्रवृत्तियों का परितोष पाकर आदि मानव उसी में ईश्वरीय सत्ता की खोज करने लगा। प्रकृति के रूप, रंग, रस, गंध, गति तथा ध्वनि से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करते हुए मानव ने जीवन की विविधता, व्यापकता तथा गहनता का विकास किया। प्राकृतिक सौन्दर्य से मुग्ध मानव की भावनाओं से विश्व साहित्य भरपूर हुआ, प्रकृति के वाह्यरूपों की खोज तथा उसे जीवन के लिये उपयोगी बनाने के लिये किये गये प्रयासों से ज्ञान की विविध सरणियां प्रवाहित हुई। इस प्रकार प्रकृति का मानव से अविच्छिन्न सम्बन्ध स्थापित हुआ। विश्व के सभी कवियों ने प्रकृति सौन्दर्य सुषमा का अवलोकन तथा चित्रण करते हुए इसी सम्बन्ध की अभि-व्यक्ति की है।

'महाप्रस्थान' प्रबन्ध काव्य की कोटि में आता है। प्रबन्ध काव्य मे मानव जीवन के सम्पूर्ण अथवा आंशिक रूप का वर्णन किया जाता है। प्राचीन आचार्यों ने देश, काल, वातावरण की सहज अभिव्यक्ति के लिये प्रकृति चित्रण को आवश्यक माना है। विद्वानों ने प्रकृति के दो रूप माने हैं—मानव प्रकृति तथा मानवेतर प्रकृति। मानव प्रकृति के अन्तर्गत अन्तरंग मानव प्रकृति तथा वहिरंग मानव प्रकृति—ये दो रूप माने जाते है जबकि मानवेतर प्रकृति में प्रकृति के नैसर्गिक तथा कृत्रिम रूप को लिया जाता है। हिन्दी साहित्य में आधुनिक युग से पूर्व कवियों की दृष्टि अधिकतर वहिर्मुखी थी। प्रारम्भिक काव्य मे प्रकृति के केवल आलम्बन तथा उद्दीपन रूप को ही प्रमुखता मिली। रीतिकाल में कृत्रिमता की प्रधानता रही। रीतिकालीन कवियों के प्रकृति चित्रण का विवेचन करते हुए कविवर सुमित्रानन्दन पंत लिखते है कि—"रीतिकाल के कवियों की दृष्टि मुख्यतः वहिर्मुखी थी, अतः उन कवियों के लिये शेष रह ही क्या गया? उनकी अपरिमेय कल्पना शक्ति कामना के हाथों द्रौपदी के दुकूल की तरह फैलकर नायिका के अंग-प्रत्यंग से लिपट गई।" आधुनिक काल के प्रारम्भिक कवियों ने भी केवल परम्परा का पालन ही किया। द्विवेदी युग तक प्रकृति के सामान्य रूप का वर्णन ही किया गया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

के अनुसार—"हिन्दी की कविता में प्राकृतिक दृश्यों का वह सूक्ष्म वर्णन नहीं मिलता जो संस्कृत की प्राचीन कविताओं में पाया जाता है।" वस्तुतः द्विवेदी-कालीन आदर्शवादिता, इतिवृत्तात्मकता, उपदेशात्मकताजन्य नीरसता की प्रतिक्रिया में उदित छायावादी कविता ने हिन्दी साहित्य को प्राकृतिक सौन्दर्य सुषमा के भण्डार से भरा।

छायावादी कवियों ने प्रकृति को सचेतन मानकर उसमें अपने भावों का आरोप करके जिस अलौकिक, दिव्य, मुग्धकारी सूक्ष्म सौन्दर्य का चित्रण किया है उससे हिन्दी साहित्य विश्व साहित्य में गौरवान्वित हुआ है। डा० कृष्णशंकर शुक्ल के शब्दों में—"पल्लवों में उसने (छायावादी कवि) एक अस्फुट यौवना बालिका का रूप पाया, निर्झरिणी में एक अपनी धुन में मस्त कलस्वर में गाती हुई नायिका को पहचाना, उसने समस्त प्रकृति को सचेतन रूप में देखा।" यही कारण है कि छायावादी कवियों ने प्रकृति का मानवीकरण करते हुए प्रेम, सौन्दर्य, जिज्ञासा, दार्शनिकता तथा जीवन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावनाओं को रूप प्रदान किया है। कतिपय आलोचकों ने इस प्रकृति चित्रण को वायवी कहकर जीवन से दूर माना है। किन्तु यह कहना अनुचित न होगा कि हिन्दी काव्य जगत् को प्रकृति सौन्दर्य से समृद्ध करने वाले कवि छायावादी काव्य-धारा ने ही दिये।

श्री नरेश मेहता पर छायावादी कविता के प्रकृति सौन्दर्य का विशेष प्रभाव पड़ा। श्री मेहता ने प्रकृति सौन्दर्य में भावना और बुद्धि का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया है। 'महाप्रस्थान' में प्रकृति परमसत्ता की प्रतीक, साधना पथ की सहायिका, मानवी अनुभूतियों तथा समस्याओं को स्पष्ट करने वाली बन कर प्रकट हुई है। कवि ने प्रकृति चित्रण की परम्परागत शैली को अपनाते हुए उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म किन्तु व्यापक रूप का भली प्रकार चित्रण किया है। अपनी कृति के प्रारम्भ में ही परमसत्ता की महानता, व्यापकता एवं गहनता का परिचय देते हुए कवि ने लिखा है कि—

"रंग-गंध सब परित्याग कर
भोजपत्रवत् हिमाच्छादिता
वनस्पति से हीन
धरित्री
स्वयं तपस्या

पता नहीं
किस इतिहास प्रतिज्ञा में
यहाँ शताब्दियां भी लेटी हैं
हिमगुल्मों में।"

चारों ओर हिम की व्यापकता का चित्र देखकर कामायनी का वह प्रसंग स्मरण हो आता है जहां श्री जयशंकरप्रसाद जी ने ऊपर हिम और नीचे जल में एक ही सत्ता का आभास करवाया है। वस्तुतः हिमाच्छादित पर्वत शिखरों के आंचल में चलने वाले काव्य में प्रकृति सौन्दर्य की विविधता प्रदर्शित करने का अवसर सम्भव न था, इसीलिये कवि ने विगत स्मृतियों, साधना पथ की दुर्गमता में भी प्रेरणा-प्रसंगों अथवा उद्बोधन और चिन्तन के क्षणों का सम्बल लेकर प्रकृति चित्रण की विभिन्न शैलियों का सरस प्रतिपादन किया है। इसके अनेक प्रसंगों में से कुछ-एक की झलक देखी जा सकती है।

आलम्बन रूप में—प्रकृति चित्रण की परम्परा अति प्राचीन है। इसमें प्रकृति ही साध्य होती है, उसकी स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार करके कवि प्रकृति का यथातथ्य चित्रण कर देता है। इसमें प्रकृति के रूप, रंग, आकार, ध्वनि, गति आदि को साकार कर सकने वाला कवि ही सफल कहलाता है। प्राचीन कवि तो केवल वाह्य रूप का वर्णन मात्र करते थे किन्तु श्री नरेश मेहता ने उसके वाह्य रूप का वर्णन करते हुए भी मानवीय भावों की उपेक्षा नहीं होने दी, जैसे—

"छूट गये पीछे
कस्तूरी मृग वाले वे
मधु माधव से उत्सव जंगल
ग्रीष्म तपे
तंबियाये झरे पात की
वे वनानियां
गिरे चीड़फूलों से लदी भूमि
और औषधियों के वल्कल पहने
परम हितैषी वृक्ष
सभी कुछ छूट गये।"

इस चित्रण में एक ओर प्रकृति का वर्णन है तो उसके साथ ही महाप्रस्थान

के लिये चले हुए पाण्डवों की भावना को भी साकार करने का सफल प्रयास किया गया है।

आलंकारिक शैली—में प्रकृति चित्रण करते हुए कवि भावों की अनुकूलता को दृष्टिगत रखते हुए विभिन्न उपमानों का सादृश्य प्रस्तुत करता है। 'महाप्रस्थान' विचार प्रधान रचना है। इसमें महाभारत की कथा विशेष का अंश लेकर कवि ने दार्शनिक तथा सामाजिक जीवनधारा का प्रतिपादन किया है। ऐसे अनेक प्रसंगों की कवि ने सृष्टि की है जहां प्रकृति मानवीय भावनाओं की सजीव अभिव्यक्ति करती है।

"प्रत्येक मोड़ पर
दक्ष पुत्रियों सी मिलने वाली वे उद्दाम
किन्तु संकोची नदियां
चट्टानों पर लहर-फनों का
धुला धुला सा वह कोलाहल;
हर क्षण
घाटी था कि नदी में
गिर सकने वाली वे
पर्वत थामे चली जा रही।"

छायावादी काव्यधारा मे प्रकृति को सप्राण और चेतन मानकर उसके मानवी रूप को प्रमुखता मिली। श्री नरेश मेहता ने अपनी कृतियो मे प्रकृति पर चेतना का आरोप करते हुए अनेक भाव चित्रों की सृष्टि की है। हिमाच्छादित पर्वतशिखरों पर खिलने वाली धूप की आंख-मिचौनी को लेकर उसमे सहज सुन्दर और कोमल भावनाओ के अनेक सजीव चित्रो में से एक इस प्रकार है—

"हिम, केवल हिम,
मृगवर्णात धूप
देवकन्याओं सी हिम फिसल रही हैं,
चांदनियों की पारदर्शिका मलमल में
लावण्यमयी एकान्त द्रौपदियां
अंग चुरातीं।
एकाकी उपत्यकाओं का

हिमालय की ओर दौड़ती है
और क्रमशः ऊंचाइयों पर
अपनी समवेतता में
थक कर रह जाती हैं।
चीड़ और देवदारुओं का पुरुषार्थ भी
हिम के पावित्र्य का
केवल स्पर्श कर
शेष हो जाता है।"

उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह कहना युक्तिसंगत होगा कि कवि ने खण्डकाव्य की परम्परा का सफल निर्वाह करने के लिए प्रकृति सौन्दर्य का चित्रण तो किया ही है, उसके साथ ही प्रकृति चित्रण की विविध शैलियों में परम्परा-पालन और अपनी मौलिकता, रचना-कौशल तथा भावप्रवणता का भी सफल निर्वाह किया है।

महाप्रस्थान : समस्याएं

काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है। अपने सामाजिक परिवेश से विविध संस्कारों को ग्रहण करते हुए कवि-हृदय मे भाव-जगत का विकास होता है। अपने अध्ययन, जीवनदर्शन, भावुकता एवं वातावरण से प्रभावित होकर कवि का हृदय अभिव्यक्ति के लिए आकुल हो उठता है। यही आकुलता काव्यसृष्टि का मूल है। कुछ कवि केवल अपने ही सुख तक सीमित रह जाते है और कुछ अपने व्यक्तित्व को सम्पूर्ण मानवता तक विस्तृत कर लेते हैं। इसी आधार को लेकर आचार्यों ने काव्य के दो स्वरूप माने है—सामयिक और शाश्वत। वस्तुत. सम्पूर्ण मानवता को अपने मे समाहित कर लेने वाला काव्य ही शाश्वत होकर सम्मानित होता है। अतः किसी काव्य का उद्देश्य समझने के लिए कवि तथा उसकी रचना की पृष्ठभूमि को जान लेना आवश्यक है।

काव्य में उद्देश्य ? इस विषय मे साहित्य जगत मे पर्याप्त वादविवाद हो चुका है। विद्वानों का एक वर्ग 'कला को कला के लिए' मानते हुए उसमें किसी सामाजिक, दार्शनिक अथवा राजनीतिक उद्देश्य का प्रतिपादन अनुचित मानता है। यह वर्ग केवल अभिव्यक्ति को ही प्रमुखता देता है। इनके अनुसार काव्य अथवा साहित्य मे किसी उद्देश्य को ढूढ़ना सरस्वती के मन्दिर को अपवित्र करना मानते हैं किन्तु आचार्यों का वह वर्ग जो साहित्य को जीवन की

आलोचना, समीक्षा अथवा निर्मिति मानता है उसके अनुसार सामाजिक जीवन में संकुचित, पल्लवित होने के लिए सामाजिक जीवन की उपेक्षा अथवा अवहेलना उचित नहीं। कवि जीवन और जगत के अन्तर्गत के साथ अपने व्यक्तित्व को एकरूप कर लेता है। वस्तुतः इसी वर्ग के कवियों द्वारा शाश्वत साहित्य की सृष्टि हुई है। 'महाप्रस्थान' का उद्देश्य जानने से पूर्व श्री नरेश मेहता की भावभूमि का परिचय होना उपयोगी होगा।

श्री नरेश मेहता के काव्य का विवेचन करते हुए डा० शिवकुमार मिश्र लिखते हैं कि—"उदात्त मानवीय विचारों और स्वस्थ सामाजिकता को लिए हुए जब उनका शिल्प सक्रिय होता है तो वस्तुतः अतीव सुन्दर कविताओं की सृष्टि होती है।" मेहता जी के काव्य का अवलोकन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि धरती एवं मानवता के प्रति कवि के प्रेम उनके उज्ज्वल भविष्य के प्रति गहन आस्था और विश्वास एवं व्यापक सामाजिकता में लीन होने की उत्कट आकांक्षा उनके काव्य मे उत्तरोत्तर बढती ही जाती है। सामाजिक वस्तु-तत्व और समृद्ध शैली के संतुलन की दृष्टि से नरेश मेहता नयी पीढी के कवियों मे अग्रगण्य हे। उनकी विचारधारा स्वस्थ और सामाजिकता से सम्पन्न है। 'दूसरा सप्तक' की कविता 'उषस' से लेकर 'महाप्रस्थान' तक कवि की यह विचारधारा उत्तरोत्तर विकसित होती जा रही है।

'महाप्रस्थान' के उद्देश्य को समझने के लिये समकालीन परिस्थिति का सिंहावलोकन भी करना होगा। प्रस्तुत कृति का जन्म सन् १९७४ मे हुआ। यह काल भारतीय जन-जीवन मे विशेप महत्व रखता है। इस युग मे आकर धर्म, दर्शन, शिक्षा, समाज, साहित्य सभी पर राजनीति का वर्चस्व दिन प्रति दिन बढता गया। आर्थिक परिस्थितियों, राजनीतिक गतिविधियो तथा संवैधानिक प्रक्रियाओ के कारण राज्य की शक्ति बढती गयी, समूची शक्तियो का केन्द्र-विन्दु शासन ही वन गया। ऐसे समय मे जनमानस विशेषतया वुद्धिजीवियों के हृदय की कसमसाहट फूट पडने को आकुल हो उठी। भारतीय जीवन मे दो विपरीत भावनाओ का आसन्न संघर्ष अनुभव होने लगा था, राज्यसत्ता प्रमुख है अथवा व्यक्ति स्वातंत्र्य, इस विपय को लेकर कई प्रकार के आन्दोलन अथवा कार्यव्यापार चल रहे थे। ऐसी परिस्थिति मे 'महाप्रस्थान' की सृष्टि हुई। स्वयं कवि ने इसकी पृष्ठभूमि का विवेचन स्पष्ट शब्दों में करते हुए
खा है कि—

"काव्य का प्रयोजन कभी भी राज्य का चारण होने मे नहीं रहा है। मानव मुक्ति के प्रयास मे कभी क्रांतिकारी तो कभी उसकी भक्तिक मुद्रा रही है। काव्य प्राय: राजनीति के समानान्तर मूल्यों का वाहक रहा है। आज जिस राजनीतिक संक्राति से हम गुजर रहे है उसमें प्रशासक और राज्य व्यवस्था के अकूत शक्तिशाली हो जाने का संकट तथा सम्भावनाएं बढ गयी हैं। अत: काव्य का दायित्व भी बढ़ गया है ताकि मानव-मुक्ति के संघर्ष मे अपना सहयोग दे सके।"

उपरोक्त वक्तव्य से स्पष्ट हो जाता है कि समकालीन परिस्थितियों के कारण कवि-हृदय कसमसा रहा था। यह ठीक है कि युद्ध और राज्य व्यवस्था मानव समाज के सनातन दुर्भाग्य रहे हैं। इन्हीं के संघर्ष और विकास की प्रशस्तियां ही इतिहास तथा गाथाओं में साकार हुई। अनेक बार इनके कारण मानव जीवन विषमताओं से विकल हो उठा, और इनके चंगुल से मानव को मुक्त करने के प्रयास की मानव-मुक्ति के मार्ग को प्रशस्त करते रहे। 'महाप्रस्थान' मानव-मुक्ति की इसी यात्रा का एक चरण है।

समसामयिक परिस्थितियों, समस्याओं अथवा उनके समाधान की परिधि में आबद्ध न होकर कवि ने उसे एक दार्शनिक सिद्धान्त से जोड़ कर काव्य में सत्य और शिव का सुन्दर समन्वय किया है। प्रारम्भ मे हिम रूप में उस शिवत्व का चित्रण किया गया है जिसे पाने के लिये प्रत्येक जीवन आकुल रहता है।

"हिम, केवल हिम—
अपने शिव रूप में
हिम ही हिम अब।"

उसी परमतत्व का परिचायक है। उसी की प्राप्ति के लिये धरित्री अनादिकाल से तपस्यारत है। 'महाप्रस्थान' के प्रथम पर्व में कवि ने हिमशिखरों से लेकर धरती और धरती पर विचरण करने वाले जीवों तथा प्राकृतिक उपकरणों का चित्रण करते हुए यहां स्पष्ट किया है कि उसी परम तत्व से नानाविध रूप-रंग वाली प्रकृति का विस्तार होता है। प्रकृति का कण-कण उसी सत्ता का स्तवन करने में लीन है। मुक्ति की इच्छा लेकर चलने वाले के लिये सांसारिकता का परित्याग तथा ऊर्ध्वपथ पर निरन्तर चलना ही धर्म अथवा साधना की चरम परिणति है। युधिष्ठिर मुक्ति पर चले, प्रकृति, सांसारिकता तथा भौतिकता के प्रत्येक स्वरूप से अनासक्त होकर सबको त्याग कर चलते गये। 'चरैवेति'

सिद्धान्त उनका सम्बल बना, केवल संकल्प की सम्पदा ही वहा पहुच सकती है। योगियो ने ब्रह्म प्राप्ति के लिये पिपीलिका मार्ग का प्रतिपादन किया था, जबकि पाण्डवो के पिपीलिका सेना की समानता देकर कवि ने उसका संकेत कर दिया है। करुणाविवेक समन्वित पुण्य स्वरूप युधिष्ठिर स्वर्ग तभी पहुच पाये जब उन्होंने देह-भीम, सामाजिकता द्रौपदी, पुरुषार्थ-अर्जुन, स्वरूप ज्ञान नकुल सहदेव आदि का परित्याग कर दिया। उस समय उनके पास केवल करुणा, विवेक तथा धर्म के प्रतीक के अतिरिक्त कुछ नही था। इस प्रकार कवि ने यह स्पष्ट कर दिया है कि उस अनासक्त मे एकरूप होने के लिये साधक को सभी प्रकार के अपनत्व का समर्पण करना होता है।

दार्शनिक सिद्धान्तो के अतिरिक्त कवि ने संक्षिप्त किन्तु सार्थक रूप मे जीवन के नानाविध प्रश्नो पर अपने विचारो की अभिव्यक्ति की है। मानव जीवन के शाश्वत मूल्यो, पारिवारिक सम्बन्धो, व्यावहारिक जीवन की विषमताओ, पाप, पुण्य, भाग्यवाद, पुरुषार्थ, स्त्री जीवन मे व्याप्त विसंगतियो, स्त्री पुरुष के पारस्परिक सम्बन्धो आदि विभिन्न विषयों का सटीक प्रतिपादन किया गया है।

सम्प्रति जगत की प्रमुख समस्या है युद्ध। युद्ध की विभीषिका तथा उसके दुष्परिणामों की आशंका मात्र से मानव चिन्तित है। राजनीतिक पंडितो ने युद्ध के लिये सदा ही अपने विरोधियों को दोष दिया किन्तु श्री नरेश मेहता ने इसे एक सामाजिक समस्या का रूप दिया है। कवि के अनुसार —

> "मूल्य और मानवी उदात्तों से
> जब सार्वजनिक जीवन में
> जो जाती है शेष
> तभी होता है युद्ध-
> युद्ध का घोष।"

अपने जीवन मूल्यों की रक्षा के लिये युद्ध करना पडता है किन्तु उसका परिणाम सुखद नही होता। हत्या, विनाश का जहर पीकर भी छुटकारा नही होता, युद्ध के पश्चात् समाज मे वर्णसंकरता बढ जाती है और विजेता को पश्चात्ताप की ज्वाला मे जलना पडता है। एक युद्ध रणभूमि में होता है तो दूसरा शिरा उपशिराओं मे चलता ही रहता है। राज्य सत्ता अन्धी होती

है, उसका प्रभाव तेजस्विता को भी नष्ट करता है, तभी तो भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि भी दुर्योधन का प्रतिवाद न कर सके। कवि के शब्दों में—

"पार्थ ! राज्य के कोप सदृश ही
राज्यकृपा भी
कैसे ही तेजस को
कर देती है भ्रष्ट
अन्त में नष्ट।"

छल, बल, कूटनीति और षड्यन्त्र सत्ता के आधार बन जाते हैं और जब शासक का अभिमान अत्यधिक बढ़ जाये तो वह व्यक्ति को भी पण्य बनाकर मनमानी करने लगता है। युद्ध सत्ता, राज्य अथवा राज्य-व्यवस्था के लिए कवि का मत है—

"किसी भी साम्राज्य से बड़ा है
एक बन्धु
एक अनाम मनुष्य।"

क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति में दैवीशक्ति निहित रहती है। उसे जगाने का प्रयास होना चाहिये। वीरता, शक्ति अथवा युद्ध को ही मुख्य शस्त्र मानने वाले तो पशु बल को बढावा देते है। विवेक की भाषा का प्रभाव व्यापक और स्थायी हो सकता है। युधिष्ठिर तो स्पष्टतया घोषणा करता है कि—

"विश्वास करो
धर्म के मूल्य पर
मैं स्वर्ग भी अस्वीकार कर सकता हूं भीम।"

यह ठीक है कि तात्कालिक धर्म के अनुसार कभी-कभी युद्ध अनिवार्य हो जाता है किन्तु अनासक्त भाव से किया गया युद्ध मन मे पश्चाताप अथवा ग्लानि को जन्म नही देता। व्यक्ति के पुरुषार्थ और संकल्प को महत्व देकर सत्ता का केन्द्रीकरण नही होता, क्योंकि इससे समाज के अधिकांश घटक न्याय प्राप्त नहीं कर सकते, शक्तिशाली उनके स्वत्व का अपहरण करते रहते हैं। इसीलिए कवि की भावना युधिष्ठिर के मुख मे ध्वनित होने लगती है, जिसमें कवि ने राज्य, राज्य व्यवस्था एवं शासक की निरंकुशता तथा उसके दुष्परिणामों का चित्रण किया है —

"आज नहीं तो कल
राजा से अधिक कठोर हो जायेंगे,
ये राज्य
और सुदूर भविष्य में
राज्य से भी अधिक अमानवीय हो जाएंगी
ये राज्य व्यवस्थायें।"

परिणामतः युद्ध और आतंक ही सामाजिकता का पर्याय बन जायेगा। वस्तुतः संसार में तानाशाही प्रवृत्ति का इससे स्पष्ट चित्रण नहीं हो सकता। धर्मराज का मत है—समाज का आधार धर्म है तथा धर्म और विचार की स्वतंत्रता ही राज्य पर सर्वोपरि अंकुश हो सकते है। व्यक्ति की प्रज्ञा में धर्म का उद्‌गम होता है, इसलिये व्यक्ति तथा विचार-स्वातन्त्र्य किसी भी समाज के लिये परम आवश्यक है। व्यक्ति को कुचल कर सामाजिकता का विकास नही हो सकता। राजनीति सामयिक परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित होती है किन्तु धर्म और दर्शन के शाश्वत सिद्धान्तों का अनुगमन करने से ही राज्य एवं राज्यव्यवस्था का समुचित नियमन हो सकता है। क्योंकि प्रत्येक व्यवस्था के पास अपनी शक्तियां होती हैं, उनकी निरंकुशता से समाज में विवशता फैल सकती है।

युधिष्ठिर के शब्दो मे—

"व्यवस्था का मुकुट धारण करते ही
किसी भी व्यक्ति का
मनुष्यत्व नष्ट हो जाता है।"

इसीलिये हमें ऐसी स्थिति से बचने के लिये प्रयत्न करना होगा कि—

"सुदूर भविष्य में
'क्या यह नहीं सम्भव है कि
राज्य व्यवस्था
समाज से स्वतंत्रचेता व्यक्तियों को ही
या तो समाप्त कर दे
या उन्हें इतना विवश, पंगु बना दे कि
उनका अग्नि व्यक्तित्व
राज्य व्यवस्था की निरंकुशता को
कभी चुनौती ही न दे पाये।"

इस परिस्थिति से बचने के लिये व्यक्ति, विचाराभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, राजनीति और धर्म के पारस्परिक सम्बन्ध की घनिष्ठता एवं वर्गगत या व्यक्तिगत स्वार्थों को त्याग कर सामाजिक जीवन की महत्ता की प्रतिष्ठा होनी चाहिए। इस प्रकार 'महाप्रस्थान' के रचयिता ने अपने संक्षिप्त कथानक की परिधि में रहकर भी जीवन के ऐहिक एवं पारलौकिक पक्षों से सम्बन्धित नानाविध विषयों का समुचित सार्थक एवं प्रभावशाली चित्रण किया है। सम्पूर्ण काव्य का अनुशीलन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्री नरेश मेहता ने अपने उद्देश्य का प्रतिपादन करने में अपूर्व सफलता पाई है। कवि ने युधिष्ठिर और अर्जुन अथवा भीम के वार्तालाप में उक्त सिद्धान्तों को जिस शैली में चित्रित किया है उसमें कवि के शिल्प-कौशल का परिचय मिलता है। वैसे भी कवि का उद्देश्य कथावस्तु एवं पात्रों में इस प्रकार समरस हो गया है कि उसकी प्रभविष्णुता पाठक को अभिभूत करने में पूर्णतया समर्थ है।

महाप्रस्थान : काव्यरूप

'महाप्रस्थान' हिन्दी साहित्य में प्रबन्ध काव्य परम्परा की नवीनतम कृति है। श्री नरेश मेहता ने भारतीय वाङ्मय के अमर स्रोत महाभारत के एक प्रसंग को लेकर इसकी कथावस्तु की रचना की है। महाभारत में पाण्डवों द्वारा स्वर्गारोहण धार्मिक कर्तव्य अथवा पुण्यप्राप्ति का एक सोपान है किन्तु श्री नरेश मेहता ने समसामयिक समाज की परिस्थितियों, राज्य, राज्य-व्यवस्था की निरंकुशता तथा उससे मुक्ति की कामना करने वाले मानव के संघर्षशील, विचारशील रूप को काव्यात्मकता प्रदान की है। कवि ने अपनी कल्पना और चिन्तन से समसामयिक समस्या के साथ मानव की सार्वकालिक समस्या तथा आकांक्षा का अत्यन्त प्रभावी एवं आकर्षक चित्रण किया है। सम्प्रति युग की बौद्धिकता को भावात्मक सरसता प्रदान करते हुए कवि ने अपनी कृति को शास्त्रीय एवं व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से उत्तम बना दिया है। इसका नामकरण करते हुए स्वयं ही कवि ने इसे खण्डकाव्य की संज्ञा प्रदान की है। अतः 'महाप्रस्थान' का मूल्यांकन करने से पूर्व खण्डकाव्य के शास्त्रीय स्वरूप को समझ लेना उचित ही होगा।

साहित्याचार्यों ने खण्डकाव्य को प्रबन्धकाव्य का प्रमुख रूप माना है। 'साहित्य दर्पण' के प्रणेता आचार्य विश्वनाथ ने खण्डकाव्य का लक्षण इस प्रकार दिया है :—

"खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च।"

अर्थात् खण्डकाव्य में एक देश या एक काल की भाषा में एक प्रधान घटना का अनुसरण करना है। वस्तुतः खण्डकाव्य लघु कथाकाव्य होता, जिसमें जीवन की व्यापकता, विविधता नहीं होती, कथानक का अत्यधिक विस्तार नहीं होता, जीवन के किसी खण्डविशेष का ही निरूपण होता है। डा० शम्भूनाथ सिंह के शब्दों में, 'खण्डकाव्य में प्रबन्धकाव्य होने के कारण कथा का तारतम्य तो रहता है, किन्तु महाकाव्य की अपेक्षा इसका क्षेत्र सीमित होता है। इसमें जीवन की वह अनेकरूपता नहीं रहती जो महाकाव्य में होती है। इसमें कहानी और एकांकी की भांति एक ही प्रधान घटना के लिये सामग्री जुटाई जाती है।"

महाकाव्य मे जीवन का सर्वांगीण चित्रण होता है, खण्डकाव्य मे जीवन का खण्ड विशेष ही होता है। सफल खण्डकाव्य वही हो सकता है जिसमे जीवन का एक भाग ही अपने मे पूर्ण प्रतीत होने लगे, जिसमे जीवन की व्यापकता को लघु आकार मे ऐसे नियोजित कर दिया जाय जो अपने मे सर्वथा पूर्ण और सजीव प्रतीत हो। सामान्यतः खण्डकाव्य मे निम्नलिखित तत्वो का होना आवश्यक माना जाता है—

१. खण्डकाव्य मे सर्गबद्ध, सानुबन्ध तथा सप्रबन्ध कथा होती है, इसमे महाकाव्य के समान संधियो आदि के निर्वाह का अवकाश नही होता किन्तु प्रभावान्विति तथा त्वरा इसमे होनी ही चाहिये।

२. खण्डकाव्य की कथा पौराणिक, ऐतिहासिक अथवा काल्पनिक भी हो सकती है। भारतीय आचार्यो ने उदात्त आदर्शोन्मुखी कथा को प्रमुखता दी किन्तु आधुनिक जीवन मे यथार्थ जीवन की अभिव्यक्ति को भी मान्यता प्रदान की गयी है।

३. खण्डकाव्य की कथा में विविधता, व्यापकता तथा विस्तार आदि के अभाव को नाटकीयता से पूर्ण किया जाता है। वस्तुतः एकान्विति के लिये नाटकीय गुणों का समावेश आवश्यक हो जाता है।

४. खण्डकाव्य का नायक धीरोदात्त इतिहास प्रसिद्ध एव कुलीन होना चाहिये।

५. खण्डकाव्य मे सात या उससे कम सर्ग होते है, प्रत्येक सर्ग पूर्वा पर सम्बद्ध होना चाहिये। सर्गान्त मे आगामी सर्ग की कथा का सकेत होना भी आवश्यक माना गया है।

इनके अतिरिक्त खण्डकाव्य में देशकाल वातावरण की सृष्टि के लिये प्रकृति परिवार अथवा जीवन के कार्यकलापों का चित्रण भी रहता है। पात्रों के कथोपकथन से कृति में सरसता, प्रवाह तथा वास्तविकता की सृष्टि होती है। छन्द, अलंकार आदि कलापक्ष से सम्बन्धित तत्वों के निर्वाह के साथ ही भाव, गुण, रस आदि का भी प्रतिपादन खण्डकाव्य में आवश्यक माना गया है। आचार्यों ने वीर, शृंगार अथवा शान्त में किसी एक की प्रमुखता को आवश्यक माना है। इन सबसे बढ़ कर उदात्त आदर्श की प्रतिष्ठा को काव्य का उद्देश्य माना गया है। उपरोक्त तत्वों के आधार पर अनुशीलन करने से ही 'महाप्रस्थान' का मूल्यांकन किया जा सकता है।

कथावस्तु—'महाप्रस्थान' की कथा का आधार 'महाभारत' है। युद्ध समाप्ति के पश्चात् पाण्डवों को राज्य प्राप्त हुआ किन्तु अपने संबंधियो, परिजनों के विनाश की विभीषिका ने युधिष्ठिर के हृदय को आहत कर दिया। परिणामतः सांसारिकता को त्याग कर युधिष्ठिर अपने अनुजों तथा पत्नी को साथ लेकर स्वर्गपथ की ओर अग्रसर हुए। धर्मराज की आस्था की परीक्षा लेने के लिये स्वयं धर्म श्वान के रूप में उनके साथ चल पड़ा। पाण्डवों का बर्फ में गल जाना, भीम के प्रश्नों के उत्तर में सभी के चरित्रों का विश्लेषण और अन्त में श्वान के साथ स्वर्ग में प्रवेश करना आदि का वर्णन 'महाभारत' के प्रणेता ने किया। श्री नरेश मेहता ने इसी प्रसंग को लेकर प्रस्तुत रचना की वस्तु का निर्माण किया है। किन्तु कवि ने इस प्रसंग को अपने चिन्तन तथा कल्पना से अत्यन्त उदात्त, गम्भीर, विचारोत्तेजक एवं आकर्षक बना दिया है।

'महाप्रस्थान' की कथावस्तु प्रतीकात्मक शैली पर गठित की गयी है। कवि ने इसमें दार्शनिकता, आध्यात्मिकता, सामाजिकता, राजनीति तथा इन सबसे सम्बन्धित मानवीय भावनाओं का अपूर्व समन्वय किया है। दार्शनिक दृष्टि से कवि की मान्यता है—सम्पूर्ण विश्व में एक ही तत्व शाश्वत है। परमसत्ता ही हिम रूप में विद्यमान है, जब हिम गलती है, परमसत्ता करुणा विगलित होती है तो नदियों, प्रपातों, झरनों का कलगान प्रारम्भ होता है, आगे चलकर उसी से जड़-चेतन सृष्टि का विस्तार होता है। जीव संसार में आकर अहमन्यता में डूब जाता है। परिणामस्वरूप संघर्ष-युद्ध सत्ता का संघर्ष चल पड़ता है, छल-प्रपंच तथा षड्यन्त्रों का विस्तार होता है। जीव हृदय

विभिन्न विषमताओं से गिर कर खंडित होता है। उसमें शक्ति का एक ही उपाय है उस परम सत्ता को प्राप्त करना। इसके लिये निष्ठा तथा आस्था का सहारा लेकर उर्ध्व जीवन की ओर चलना होता है। युधिष्ठिर का महाप्रस्थान पर अग्रसर होना तो उन्होंने द्रौपदी के रूप में सामाजिकता को विलीन होते देखा नकुल और सहदेव के रूप में स्वरूप और ज्ञान खो गये, धीरे-धीरे अर्जुन भी समाप्त हो गया और अन्त में पाण्डवता की देह का प्रतीक भीम भी साथ नहीं रहा. रह गया केवल धर्म का स्वरूप ज्ञान, करुणा और विवेक का आधार। इसी को लेकर युधिष्ठिर उन परमसत्ता के लोक में प्रविष्ट हो सके। कवि ने इस प्रतीकात्मकता का सफलता से निर्वाह किया है।

राज्य और राज्य सत्ता की निरंकुशता के सामने व्यक्ति के महत्व का गौण हो जाना स्वाभाविक है। जब सत्ताधारी मदान्ध हो जायें तो युद्ध, आतंक, अशान्ति, षड्यन्त्र तथा छल-कपट का व्यापार बढ़ जाता है। इससे केवल रक्तपात ही नही होता अपितु समाज के जीवन मे वर्णसंकरता, अशिष्टता, अमर्यादा, शोषण की वृद्धि होती है। जब तक शासक और शासित मे करुणा और विवेक पर आधारित सम्बन्ध नही होगा तब तक महाभारत युद्ध की विभीषिका मानवता को रौंदती रहेगी। मानव-जीवन की इस शाश्वत समस्या को युधिष्ठिर-अर्जुन तथा युधिष्ठिर और भीम के वार्तालाप मे बड़ी स्पष्ट भाषा ने चित्रित किया गया है। समसामयिक जीवन की अनुभूतियों का इतना स्पष्ट और सार्थक चित्रण बहुत कम कवि ही कर पाये है। प्रशासक और राज्य व्यवस्था के अकूत शक्तिशाली हो जाने के संकट तथा सम्भावनाओ को अपने ऐतिहासिक अथवा पौराणिक परिवेश मे इतना प्रभावी रूप देने के कारण श्री नरेश मेहता वस्तुतः साधुवाद के पात्र है। कवि का विश्वास है कि काव्य का प्रयोजन केवल सत्ता का चारण होना नही। इसी विश्वास का प्रतिफलन प्रस्तुत कृति मे अभिव्यक्त हुआ है। दुर्योधन निरंकुश सत्ता का प्रतीक है, उसकी कृपा अथवा क्रोध दोनो ही व्यक्ति की अभिव्यक्ति मे बाधक है, तभी तो भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य आदि भी सत्ता का विरोध न कर पाये। देश की परिस्थिति का चित्रण करने मे कवि को अपूर्व सफलता मिली है। कथा के लघु आकार मे ही जीवन की अन्य समस्याओ का सांकेतिक किन्तु स्पष्ट चित्रण करने मे भी इस काव्य को सफल खण्डकाव्य कहना होगा। खण्ड में पूर्ण की अभिव्यक्ति करने मे कवि कल्पना पूर्णतया सफल कही जा सकती है।

'महाप्रस्थान' की कथा तीन पर्वों में विभाजित है—यात्रा पर्व, स्वाहा पर्व और स्वर्ग पर्व। प्रथम पर्व में कवि ने युधिष्ठिर की यात्रा का वर्णन किया है। यात्रा के प्रथम चरण में हिममण्डित शिखरों पर बढ़ते हुए धर्मराज को विगत की स्मृतिया घेर लेती हैं। प्रकृति-सौन्दर्य, विभिन्न उपकरणों की नानाविध गतिविधियों को विभिन्न रूपकों द्वारा अभिव्यक्ति मे कवि ने जीवन-यात्रा के साथ-साथ युधिष्ठिर के स्वर्गारोहण का भी सरस चित्रण किया है। इसी पर्व मे पाण्डवों के जीवन-संघर्ष, दुर्योधन की निरंकुश-सत्ता तथा उसके प्रभाव आदि का भी चित्रण किया गया है। पर्व के अन्त में द्रौपदी की पुकार आगामी पर्व की भूमिका बन जाती है। स्वाहा पर्व मे कवि ने सभी पाण्डवों के हिम मे गल जाने का वर्णन किया है। वस्तुत: यही पर्व 'महाप्रस्थान' का प्रधान पर्व है। इसमें धर्म, दर्शन के साथ राज्यसत्ता, राज्यव्यवस्था, व्यक्ति की अभिव्यक्ति, व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्ध, निरंकुश शासन के दुष्परिणाम आदि के साथ मुक्तिकामी युधिष्ठिर के माध्यम से व्यक्ति की स्वाधीनता का विस्तृत विवेचन किया है। दार्शनिक सिद्धान्तो तथा जीवन की वास्तविकता का वर्णन करने में कवि को विशेष सफलता मिली है। स्वर्ग पर्व मे करुणा विवेक पर आधारित मानव-मुक्ति का प्रभावी चित्रण हुआ है। सभी कुछ त्याग कर एकाकी युधिष्ठिर ऐसा ही प्रतीत होते हैं जैसे सांसारिक पदार्थों का परित्याग करके निस्पृह साधक अपने साध्य के निकट पहुंच जाता है, उसके जीवन में किसी प्रकार की विषमता, अशांति अथवा संशय नही रहते, वह अपने उदात्त व्यक्तित्व से परमधर्म में प्रविष्ट हो जाता है। इस प्रकार यह कथा एकदम संघठित, रोचक, प्रवाहमान और उदात्त प्रवृत्तियो को जागृत करती है। प्रारम्भ से अन्त तक कथा का प्रवाह निरन्तर लक्ष्य की ओर बढता जाता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि खण्डकाव्य में महाकाव्य सरीखी विविधता तथा व्यापकता नही होती किन्तु उसमे वर्णित जीवन का अंश भी पूर्ण की अभिव्यक्ति का आभास देता है। महाप्रस्थान का लघु आकार जीवन की व्यापकता को अपने मे समेटे हुए है। प्रारम्भ की रोचकता, मध्य का संघर्ष तथा अन्त की प्रभावान्विति का निर्वाह करने मे कवि को पूर्ण सफलता मिली है। शास्त्रीय दृष्टि से यह कथा उत्पाद्य—ही कही जा सकती है, लेखक ने मूल कथा को उसके वास्तविक रूप में लेकर ही अपनी कल्पना का सम्मिश्रण किया है। कथा की पौराणिकता मे आधुनिक बौद्धिकता का समावेश होने के कारण कथा की रोचकता मे वृद्धि हो गयी है।

खण्डकाव्य का दूसरा मुख्य तत्व है पात्र और चरित्र-चित्रण । आचार्यों के अनुसार कथा का नायक धीरोदात्त, इतिहास प्रसिद्ध एवं कुलीन होना चाहिये । महाप्रस्थान के मुख्य पात्र हैं युधिष्ठिर । भारतीय जन-जीवन मे धर्मराज के रूप मे परिचित युधिष्ठिर के चरित्र को महाभारत के प्रणेता ने उच्चतम आदर्श का स्वरूप प्रदान किया है। श्री नरेश मेहता ने जनमानस मे प्रतिष्ठित युधिष्ठिर के इसी रूप को लेकर उसे एक सहज मानव का रूप प्रदान किया है, ऐसा मानव जो जीवन-मूल्यों का अन्वेषण करते हुए जीवन भर कष्ट सहता रहा किन्तु कहीं भी अपनी प्रज्ञा विवेक अथवा करुणा का त्याग नही करता । अपने जीवन लक्ष्य की प्राप्ति के लिये अविभाजित व्यक्तित्व को निरर्थक मानता है, जीवन मूल्यों का निष्पक्ष विवेचन करता है । सत्य और न्याय मे केवल अपने को ही महत्व नहीं देता अपितु दूसरो का भी मान-सम्मान करते हुए समाज के उस वर्ग के लिए चिन्तित रहता है । युधिष्ठिर के अतिरिक्त, भीम, अर्जुन, द्रौपदी के चरित्रों को भी भली प्रकार उभारा है । वार्तालाप तथा अर्न्तद्वन्द्व शैली को सभी के चरित्र-चित्रण का माध्यम बनाया गया है । द्रौपदी के माध्यम से नारी जीवन की भावुकता, सामाजिक जीवन मे उसके स्थान तथा विवशता, पराधीनता का भी सही चित्रण किया गया है, जिसके रूप-सौंदर्य की समता नही थी, जिसका वरण करने के लिये महास्वयंवर आयोजित हुआ, उसके भाग्य की विडम्बना ही तो थी कि उसे पांच पतियों की भार्या बनना पड़ा । यह भी कम विडम्बना नही थी कि कोई भी पति उसकी रागात्मकता को न पा सका । युधिष्ठिर की सेविका, भीम की स्वामिनी, द्रौपदी के लिये नकुल और सहदेव केवल कृपा पात्र ही बने रहे, केवल पार्थ ही उसके लिये पति सिद्ध हो सके, किन्तु समय की गति के कारण पाच पतियो, वंश के गुरुजनो के सामने ही उसे अपमानित और निरवस्त्र करने का प्रयास किया गया । महाभारत युद्ध के कारण द्रौपदी सम्राज्ञी बनी किन्तु उसका सुख न भोग सकी । अश्वत्थामा के व्यंग्य ने उसके सामने जीवन की वास्तविकता को ही साकार कर दिया । कवि ने अन्य पात्रो का केवल उल्लेख मात्र करके ही कथा को बढ़ाया, अन्यथा इसमे शैथिल्य आ जाता । इस प्रकार महाप्रस्थान के रचयिता ने पात्र और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी पूर्ण सफलता प्राप्त की है ।

खण्डकाव्य में देश काल वातावरण, प्रकृति जीवन से सम्बद्ध अन्य उपकरणों का यथोचित चित्र भी आवश्यक माना गया है। प्राचीन काव्य मे तो केवल आलम्बन, अथवा उद्दीपन रूपो को ही प्रमुखता दी जाती थी। आधुनिक कवियो ने प्रकृति के साथ तादात्म्य करके उसे भी जीवन की तरह सप्राण मानकर काव्य में स्थान दिया है। छायावादी काव्य में प्रकृति चित्रण को सर्वाधिक प्रमुखता मिली, पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क से प्रकृति चित्रण के अनेक आयाम सामने आये। प्रस्तुत रचना मे दार्शनिक विचारो की अभिव्यक्ति भी प्रकृति के माध्यम से की गयी है। प्रथम सर्ग मे हिमाच्छादित गिरि शिखरों से प्रकृति चित्रण प्रारम्भ हुआ और वहाँ से क्रमशः नीचे उतरते हुए नदियों, प्रपातों, निर्झरों, वृक्षो, वनस्पतियों और फूलों-फलों तथा तरह-तरह के जानवरो से आगे बढते हुए मानव-जीवन के नाना प्रकार के कार्य-व्यापारों का चित्रण किया गया है। इस खण्ड मे कवि ने उपमा, रूपक, मानवीकरण तथा विशेषण विपर्यय आदि के माध्यम से प्रकृति सौन्दर्य को साकार किया है। इससे आगे चलकर कवि ने जीवन की ऊर्ध्वगति के अनुसार प्रकृति की यात्रा का वर्णन किया है। खेतो, खलिहानो के सौन्दर्य मे ऊपर उठते हुए अन्त में सम्पूर्ण प्रकृति हिम मे परिणत हो जाती है। कवि का मत है कि व्यक्ति वृक्ष हो जाता है और वृक्ष हिम मे दबकर हिम ही हो जाता है। इसी क्रम का चित्रण करते हुए कवि ने अत्यंत मोहक तथा सजीव चित्र प्रस्तुत किये हैं। इसके साथ ही राजप्रासादों के वैभव-विलासमय जीवन का भी यथास्थान चित्रण किया गया है। सब मिलकर इस खण्ड काव्य मे देशकाल वातावरण की सृष्टि से स्वाभाविकता साकार हो गयी है।

उद्देश्य की दृष्टि से 'महाप्रस्थान' हिन्दी साहित्य की उदात्त कृतियो में गिना जायेगा। कवि ने आत्मा का परम तत्व में विलीन होना, मुक्ति की इच्छा लेकर चलने वाले साधक की मनःस्थिति, उसके लिये अपेक्षित समर्पण तथा उससे सम्बद्ध भावों आदि का व्यापक चित्रण किया गया है। धर्म और दर्शन की शाश्वत भावना के साथ-साथ समसामयिक जीवन की समस्याओं की अभिव्यक्ति मे कवि के स्वतंत्र चिन्तन, मौलिक कल्पना तथा व्यापक भावना का परिचय मिलता है। व्यक्ति की स्वतंत्र अभिव्यक्ति किसी भी राज्य अथवा राज्य व्यवस्था से बड़ी और महत्वपूर्ण है। वस्तुतः युग जीवन—जहाँ प्रजातंत्र अथवा व्यक्ति स्वातंत्र्य को विशेष महत्व दिया जाता है, जहाँ मानव को केवल

यंत्र न मानकर दैवी गुणों का आकार समझा जाता है, उसमे महाप्रस्थान मे प्रतिपादित मानव-मूल्यों का महत्वपूर्ण स्थान है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि की आत्मा दिनों दिन बढती जा रही तानाशाही के कारण अपने को कुण्ठित समझने लगी, उसका स्वतत्रचेता कवि-हृदय किसी की चाटुकारिता न कर सका, उसके हृदय की पीडा ही मानो महाप्रस्थान मे साकार हो गयी है। यही कारण है कि प्रस्तुत रचना उद्देश्य की व्यापकता, महानता तथा उदारता के कारण साहित्य जगत् में सम्मानित हो रही है।

इसमें शान्त-रस प्रधान है। यह ठीक है कि बीच मे नानाविध भावो की भी अभिव्यक्ति हुई है किन्तु कथावस्तु, विपय प्रतिपादन, चरित्र-चित्रण आदि का समवेत अनुशीलन करने से यह स्पप्ट हो जाता है कि प्रस्तुत रचना मे प्रतिपादित शात रस जीवन मे शान्तता का विस्तार करने मे सफल है। ग्लानि, पश्चाताप, क्रोध, निर्वेद, करुणा, व्यंग्य आदि भावो का वर्णन करते हुए कवि ने व्यक्ति जीवन की सीमा को लाघ कर संपूर्ण मानवता से सबंध जोडने का प्रयास किया है।

जहा तक कला पक्ष का सम्बन्ध है कवि ने विपयानुकूल भाषा का सफल प्रयोग किया है। चित्रात्मकता, व्यंग्यात्मकता तथा ध्वन्यात्मक गुणो से युक्त 'महाप्रस्थान' की भाषा चिन्तन की गम्भीरता, सौन्दर्य की सरसता एवं भाव की सहजता को वहन करने मे पूर्णतया सफल है। मुक्तक छन्द के सहज प्रवाह मे आने वाले अलकारों की छटा पाठक को अभिभूत करने मे समर्थ है। कही भी अलंकार भरने की प्रवृत्ति दिखाई नही देती। इस प्रकार एक प्राचीनतम कथा को आधुनिकता के परिवेश मे प्रस्तुत करते हुए कवि ने अपने कवि-कौशल का सहज परिचय दिया है।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह कहना समीचीन होगा कि उद्देश्य की व्यापकता, महानता, कथावस्तु के संघटन तथा लघु आकार मे व्यापक जीवन की अभिव्यवित करने में तथा कथा के पूर्वापर सम्बन्ध मे उत्तरोत्तर सरसता के विकास, पात्रों के चरित्र-चित्रण, प्रकृति चित्रण, जीवन के सामयिक तथा शाश्वत प्रश्नों के प्रतिपादन तथा मानवीय जीवन के भाव-सौन्दर्य को सज्जित करने की दृष्टि से 'महाप्रस्थान' एक सफल खण्डकाव्य है। उदात्त उद्देश्य प्रतीकात्मक शैली तथा कला-सौन्दर्य के सभी पक्षों में प्रस्तुत कृति हिन्दी साहित्य मे विशिष्ट स्थान की अधिकारिणी है।

महाप्रस्थान : काव्य-सौन्दर्य

'दूसरा सप्तक' के कवियों मे श्री नरेश मेहता का महत्वपूर्ण स्थान है। नयी पीढी के कवियों में इन्हें सर्वाधिक शिल्प-सजग कवि माना जाता है। उदात्त मानवीय विचारो और स्वस्थ सामाजिकता से समन्वित उनके शिल्प ने आधुनिक साहित्य को समृद्ध करने मे विशेष योगदान दिया है। कुछ विद्वानों की दृष्टि मे छायावादोत्तर कवियों मे केवल शिल्प को प्रमुखता मिली है, विद्वानों का एक वर्ग इन कवियो मे केवल बौद्धिकता की प्रमुखता देखता है, किन्तु श्री नरेश मेहता की कृतियों का अध्ययन करने से उक्त भ्रांतियां समाप्त हो जाती हैं। वस्तुतः मेहता जी की कृतियों मे भाव, बुद्धि तथा कला का इतना सुन्दर और स्वस्थ समन्वय हुआ है कि उसे पढकर सहृदय एक विशेष प्रकार के आनन्द का अनुभव करता है। 'महाप्रस्थान' कवि की नवीनतम कृति है, उसके काव्य सौन्दर्य का अनुशीलन करने से उक्त विचार की पुष्टि हो सकती है।

श्री नरेश मेहता ने अपनी पूर्ववर्ती कृतियों मे धरती और मानवता के प्रति गहन आस्था और विश्वास प्रकट किया है। यह ठीक है कि कवि ने अनेक रूमानी कवितायें भी लिखी है, इन कविताओं में प्रणयी हृदय की स्वच्छ अभि-व्यक्ति मिलती है। कही-कही प्राकृतिक सौन्दर्य के अवलोकन और चित्रण द्वारा मानवीय भावनाओं को चित्रित किया है, किन्तु इन सबमे भी कवि का व्यक्तित्व व्यापक सामाजिकता मे लीन हो जाने के लिये लालायित दिखाई देता है। 'उषस', 'उषस अश्व की वल्गा' 'मेघ मिथुन,' 'तीर्थजल,' 'आयु के अश्वत्थ,' 'तृषा' 'मेघ' में और 'समय देवता' आदि कृतियों मे कवि की भावधारा के विकास को देखा जा सकता है। महाप्रस्थान तक आते हुए कवि का भावसौन्दर्य सम्पूर्ण मानवता को अपनी परिधि मे लेता हुआ दिखाई देता है। कवि का शिल्प-सौष्ठव भी यहा आकर अपनी चरमावस्था की प्राप्ति करता प्रतीत होता है। समृद्ध चित्रण-कला, आकर्षक रूप चित्रण, व्यापक भावचित्र, सामयिक परिस्थितियों के परिवेश मे जीवन की शाश्वत समस्याओ का प्रति-पादन, दर्शन, राजनीति, व्यक्ति एवं समाज जीवन के विभिन्न पक्षो का व्यापक चित्रण आदि अनेक गुणो से 'महाप्रस्थान' महिमामण्डित हुआ है।

'महाप्रस्थान' के काव्य-सौन्दर्य का विवेचन करने से पूर्व यह स्मरण रखना होगा कि काव्यकार की संवेदनात्मक अनुभूतियां समकालीन समाज की

विषमताओं, संघर्षों अथवा मान्यताओं को ग्रहण कर मुक्त हो जाती है। इसी से कवि का जीवन दर्शन, चिन्तन तथा भावुकता मिलकर कवि-हृदय को उस संकल्पात्मक अनुभूति से भर देते है जिसकी अभिव्यक्ति को काव्य की संज्ञा दी जाती है। आचार्यों ने काव्य के चार मूल तत्व स्वीकार किये है—कल्पना, बुद्धि, भाव, कला। कल्पना तत्व से काव्य की सृष्टि होती है, बुद्धि तत्व उसे संगठित करता है, सद्-असद् विवेक द्वारा काव्य को योग्य तत्वों से सम्पन्न बनाया जाता है। भाव तत्व के कारण ही काव्य जनमानस में परिव्याप्त रहता है। भावो की व्यापकता, सहजता और सरसता उसे सार्वजनीन तथा सार्वकालिक बना देती है। मन, बुद्धि और प्राण के समान कल्पना, बुद्धि तथा भाव तीनों अमूर्त तत्व है, इन्हे सजीव साकार बनाकर सुन्दर रूप मे प्रस्तुत करने वाला तत्व कलापक्ष है। इसे काव्यपुरुष का शरीर भी कहते है। कुछ विद्वान काव्य का लक्ष्य सत्यं, शिवं तथा सुन्दरम् मानते है। कल्पना, बुद्धि और भाव से सत्य और शिव की प्रतिष्ठा होती है और सौन्दर्य की पुष्टि कला तत्व से ही होती है। अतः किसी भी कृति के काव्य-सौन्दर्य को समझने के लिये भावपक्ष तथा कलापक्ष का अध्ययन करना आवश्यक माना जाता है।

भारतीय आचार्यों ने रस को काव्य की आत्मा स्वीकार किया है। रस स्वयं ही आनन्द स्वरूप है, इसे ईश्वर के समान ही माना गया है। रस का मूल आधार भाव ही माना गया है। स्थायी भाव ही विभाव, अनुभाव तथा संचारी का योग पाकर उस स्थिति को प्रस्तुत करता है जहा अपने पराये का भेद, देश-काल की सीमा सभी समाप्त हो जाती है। उस परमानन्द की स्थिति को साकार कर देने वाला कवि ही वास्तव मे स्रष्टा माना जाता है। यही कारण है कि काव्य का मूल्याकन करते हुए उसके प्रतिपादित अंगीरस तथा उससे सम्बद्ध अन्य रसो के अतिरिक्त विभिन्न भावो की अभिव्यक्ति को देखना आवश्यक है। इस प्रकार 'महाप्रस्थान' के काव्य सौन्दर्य का मूल्यांकन करते हुए उसके दोनो पक्षों—भावपक्ष तथा कलापक्ष—का अवलोकन करना होगा।

प्रस्तुत कृति के भावसौन्दर्य की पृष्ठभूमि पर दृष्टिपात करने से ये स्पष्ट हो जाता है कि देश के राजनीतिक जीवन मे कुछ ऐसी प्रवृत्तिया पनपने लगी थी जिनमे राज्य और राज्यसत्ता के अधिकार अधिकाधिक बढते जा रहे थे, सामान्य मानव शासक वर्ग की कृपा का पात्र बन गया था। भय और आतंक

की घुटन मे कसमसाती मानवता की दशा कवि-हृदय को करुणा विगलित कर देती है। कवि की मान्यता है कि काव्य का प्रयोजन कभी भी राज्य का चारण होने में नही रहा। काव्य प्राय: राजनीति के समानान्तर मूल्यों का वाहक रहा है। आज जिस राजनीतिक संक्राति से हम गुजर रहे है उसमें प्रशासक और राज्य व्यवस्था के अकूत शक्तिशाली हो जाने का संकट तथा सम्भावनाये बढ गयी है। अतः काव्य का दायित्व भी बढ़ गया है ताकि मानव मुक्ति के संघर्ष मे अपना सहयोग दे सके। इसी पृष्ठभूमि पर प्रस्तुत रचना का जन्म हुआ है। स्वयं कवि के शब्दों में—"यदि किंचित भी आज के संदर्भ मे यह काव्य किसी प्रकार का प्रासंगिक लगे तो रचनाकार के नाते मैं अपना श्रम सफल समझूँगा।" वस्तुत: कवि ने समसामयिक जनजीवन के साथ-साथ दार्शनिक मान्यताओं का समन्वय करने का सफल प्रयास किया है। सामयिक परिस्थितियों तथा शाश्वत प्रश्नों का प्रतिपादन अथवा समाधान करने के कारण महाप्रस्थान का भावसौन्दर्य भी उतना ही उदात्त और व्यापक बन गया है। कवि के शब्दों मे प्रस्तुत काव्य में राज्य व्यवस्था और उस व्यवस्था के दर्शन की अमानवीय प्रकृति एवं प्रवृत्ति को स्पष्ट करना चाहा है। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये कवि ने तदनुकूल भावजगत की सृष्टि की है, जिसके कुछ स्वरूपों का आगे स्पष्टीकरण किया जायेगा।

'महाप्रस्थान' के भावसौन्दर्य के विषय मे कवि का वक्तव्य महत्वपूर्ण है। वह लिखते है कि—"मैंने कथा और कथा पुरुषों की निर्वेद स्थिति एवं मनःस्थिति को ही अपने दोनों काव्यों मे चुना, क्योंकि निर्वेद की स्थिति मे ही मानवीय प्रज्ञात्मकता अपने विवेक रूप में होती है। प्रस्तुत कृति का प्रारम्भ करुणाजन्य निर्वेद से होता है। युद्ध में विजय और सम्राट का सम्मान पाकर भी युधिष्ठिर का हृदय प्रसन्न न हो सका। विनाश की विभीषिका मे परिजनों, प्रजाजनों की मृत्यु युधिष्ठिर के हृदय मे अनासक्ति भर देती है और वह सांसारिक सुख, भोग, वैभव, विलास आदि का परित्याग करके महायात्रा को चल देता है। वातावरण में करुणा का उत्तरोत्तर विकास होता जाता है, पुण्यात्मा युधिष्ठिर, वज्र देह वाले भीम, पुरुषार्थ पुत्र अर्जुन, ज्ञान और स्वरूप के आकार नकुल और सहदेव तथा पाडवों की भार्या, सम्राज्ञी द्रौपदी सभी का यह चित्र—

"अब केवल हिम की
उजाड़, दुर्दम्य पाथरी ऐकान्तिकता

जिस पर
पतली पिपीलिका रेखा सा चलता
नतशिर बन्दी सा
पाण्डव दल ।"

सामाजिक के हृदय को करुणाप्लावित करने में पूर्णतया समर्थ है ।

करुणापूर्ण हृदय मे ही चिन्तन गतिशील होता है। उत्साह, क्रोध, आदि भावों मे क्रियाकलापो की वृद्धि होती है। किन्तु पश्चाताप, ग्लानि, दुख अथवा शोक मे मानव का अन्तर्मन अपने पर सोचने को विवश हो जाता है। महाप्रस्थान के प्रथम पर्व मे युधिष्ठिर का यह चिन्तन नानाविध प्रश्नो को अपनी परिधि मे ले लेता है । हिमाच्छादित शिखरो को देखकर उस परमसत्ता का विचार उभरता है जिसका स्तवन प्रकृति का कण-कण करता है, जिसमे इतिहास की शताब्दिया स्वत विलीन होती जाती है, जिसकी शोभा, गरिमा तथा विस्तार को, उसकी विराटता को इस प्रकृति के विविध रूपों मे देखा जा सकता है । प्रकृति के विभिन्न स्तरो के रूप मे ससार की विविधता को पीछे छोडते हुए युधिष्ठिर के हृदय मे मुक्तिपथ की गहनता-उच्चता उभर आती है, जहां तब तक चलना होता है जब तक साध्य की प्राप्ति न हो जाय । चिन्तन के इसी क्रम मे प्राकृतिक सौन्दर्य, इतिहास के स्वत-स्नात उत्थान-पतन, सांसारिक घटनाचक्र के नियामक, कालपुरुष की गति और उसमें समाहित होती जा रही सस्कृतियां आदि अनेक प्रश्न उभरते हैं। युधिष्ठिर का करुणा प्लावित हृदय सभी पर विवेक बुद्धि से चिन्तन करते हुए आगे बढता जाता है। उनमे किसी प्रकार का क्षोभ नही । इस भावस्थिति मे शृंगार अथवा उत्साह, वीरता आदि का उभरना अस्वाभाविक हो जाता है। कवि ने उनके चिन्तन में विवेक का उच्चतम आदर्श प्रस्तुत किया है । वस्तुतः यह निर्वेद ही शान्त रस का मूल आधार है जिसे महाप्रस्थान के रचयिता ने अत्यंत सजगता से साकार किया है ।

शास्त्रीय दृष्टि से इसमें शान्त तथा करुण रस को प्रमुखता दी गयी है। मुख्य रस शान्त है, करुण रस उसकी पुष्टि करता है । करुण रस का मूल है शोक । इस कृति मे युद्धजन्य विनाश से उस शोक का प्रारम्भ होता है,पाण्डवों का राज्य त्याग, महाप्रस्थान के पथ पर चलते हुए विगत की स्मृतियां, पाण्डवों का एक-एक करके हिमनद मे खो जाना, द्रौपदी द्वारा बीते जीवन की घटनाओं

की स्मृति, अपने अपमान, पतियों की विवशता, न चाहने पर भी केवल पतियों के पीछे चलने के कारण राज्य का त्याग आदि में शोक के विविध चित्र ही मिलते है। अश्वत्थामा के व्यंग्य से वही शोक बरबस द्रौपदी के मुख से फूट पड़ता है। द्रौपदी का पार्थ को पुकारना, अर्जुन का पुकार सुनकर सहायता के लिये आना किन्तु असहाय रह जाना में भी उसी शोक की अभिव्यक्ति है। यह शोक अन्त मे शात का सहायक होता दिखाई देता है। इसका मुख्य कारण है युधिष्ठिर का विवेक पर आधारित जीवन-मूल्यों का अन्वेषण। यही कारण है कि युधिष्ठिर प्रत्येक परिस्थिति मे अनासक्त रह कर जीवन अथवा घटना का विवेचन करते हैं। युधिष्ठिर द्वारा विभिन्न भावो का बौद्धिक विवेचन, भावुकता तथा बौद्धिकता का अनुपम समन्वय है। प्रकृति के सुन्दर भव्य, परिवर्तनशील रूप को देखकर मुक्तिकामी युधिष्ठिर के मुख से निकलता है—

"एक सनातन प्रश्न
यज्ञ की धूमाग्नि सा शाश्वत उठना—
है कौन नियन्ता
कार्य और कारण जिससे उद्भूत हो रहे ?"

यही वह जिज्ञासा है जो युधिष्ठिर के विवेक को शान्त रस की ओर मोड़ती है; विश्व का विनाश देखने वाले युधिष्ठिर का शोकाकुल हृदय उसका चित्रण इस प्रकार करता है—

"वह राज्यारोहण था
या था शवसाधन
कापालिक का ?
कैसी उजाड़ता
नगरों पुरों महलों मेहराबों
लोगों के मुख पर भी
लिखी हुई।"

साम्राज्य, सम्पदा, परिजन, प्रजाजन सभी कुछ काल-महाब्राह्मण को देकर मुक्तिपथ पर चलते हुए भी उनके मन से विगत का आकर्षण समाप्त न हो सका, विगत की स्मृतिया समाप्त नही होती, उसका विश्वास है कि—

"स्मृतियां
फिर प्रतिक्षण इनकी आवृत्तियां

कुछ भी तो बीत नहीं पाता है पार्थ
व्यक्ति के मन से।"

और इस दुविधा मे चिन्तन की स्वस्थ धारा ही जीवन को उदात्त आदर्शों तक ले जाती है। प्राणप्रिया द्रौपदी हिमनद मे घिर गयी, वह अपने बीते जीवन के नानाविध विचार-संघर्षों मे डूब जाती है। आगत मृत्यु जान कर वह पार्थ को पुकारती है, ऐसे समय मे युधिष्ठिर उसे जो उद्बोधन देते है वह निर्वेद की भूमिका से उठने वाले शान्त रस का ही उपक्रम है—

"पार्थ
या किसी को पुकार कर क्या होगा ?
ऊर्ध्वता पर पहुंचकर
सारी सामूहिकता
वैयक्तिकता में परिणत हो जाती है
एक और भी ऊँचाई होती है कृष्ण।
जहां यह तन भी
वृक्ष छाल सा उतार देना पड़ता है।"

धर्मराज का उक्त विवेचन उनके अनासक्त भाव का परिचायक है। द्रौपदी को उदात्त उद्देश्य की प्राप्ति के लिये प्रेरित करते हुए उन्होने सासारिक आकर्षणो से विरक्त रहकर एक ही तथ्य पर जोर दिया और कहा कि—

"कहीं कुछ नहीं लौटा करता
न जल, न समय, न जीवन।

श्री नरेश मेहता ने मानव-जीवन सम्बन्धी अनेक भावनाओ को विभिन्न पात्रों के चरित्रो का वर्णन करते हुए भी व्यक्त किया है। भीम द्वारा दुशासन के रक्तपान की स्मृति में वीभत्स की झलक मिलती है। अर्जुन और भीम के पराक्रम मे वीर रस का प्रतिपादन हुआ है। कृष्ण द्वारा द्रौपदी की लज्जा बचाने के कार्य मे आश्चर्य भाव तथा द्रौपदी द्वारा कर्ण-कृष्ण, पार्थ की स्मृति, युधिष्ठिर, भीम, नकुल और सहदेव के व्यवहार मे पत्नी की रागात्मकता को स्पर्श न कर पाने की प्रवृत्ति उसके मन के द्वन्द्व के परिचायक है। इस प्रकार यह कहना उचित ही होगा कि श्री नरेश मेहता कृत 'महाप्रस्थान' मे मानवीय भावनाओं के शास्त्रीय और व्यावहारिक दोनों रूपो का सहज और सफल चित्रण हुआ है। इस कृति का मुख्य उद्देश्य मानव की अभि-

व्यक्ति को प्रमुख और स्वतंत्र मानना है, उदात्त उद्देश्य के कारण भावाभिव्यक्ति भी पूर्ण तथा उदात्त तथा कवि के व्यापक दृष्टिकोण की परिचायक है।

काव्य का दूसरा पक्ष कलापक्ष कहलाता है। आचार्यों ने कला पक्ष को काव्य पुरुष का शरीर माना है। इसके लिये यह आवश्यक है कि कला कवि की कल्पना, बुद्धि और भाव के सर्वथा अनुकूल हो, जिस प्रकार उदात्त विचारों वाले व्यक्ति का स्वस्थ और सुन्दर होना अच्छा माना जाता है, उसी प्रकार यदि कला भावानुकूल न होगी तो वह काव्य समादृत नहीं हो सकता। कुछ विद्वान केवल कला को प्रमुखता देते हैं किन्तु यह विचार भी एकांगी तथा अपूर्ण है। कलापक्ष को लेकर प्राचीन आचार्यों ने सभी प्रकार की रचनाओं के लिये अलग-अलग सीमाएं निर्धारित की थीं किन्तु वर्तमान युग तक आते-आते पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क और प्रभाव के कारण तथा बदली हुई आर्थिक, बौद्धिक, राजनीतिक परिस्थितियों ने भी साहित्य की मान्यताओं को परिवर्तित कर दिया है। यही कारण है कि सभी सफल कृतियों में विविध परम्पराओं के दर्शन होते हैं।

'महाप्रस्थान' एक खण्डकाव्य है। भारतीय आचार्यों ने खण्डकाव्य के लिये गहन विवेचन करने के बाद अनेक सिद्धान्त स्थापित किये। वर्तमान युग तक आते हुए उनमें से अनेक सिद्धान्त या तो भुला दिये गये अथवा बदल दिये गये। यथार्थ को जीवन का पर्याय मान लेने के कारण कलापक्ष में भी स्वाभाविकता की वृद्धि हुई है। सामान्यतः कलापक्ष अथवा काव्य शिल्प के अन्तर्गत भाषा, छन्द तथा अलंकारों को प्रमुखता दी जाती है।

'महाप्रस्थान' का काव्य-सौन्दर्य समझने के लिये उक्त तत्वों पर दृष्टिपात करना उपयोगी होगा।

भाषा—भाषा कवि तथा सहृदय का माध्यम है। भाषा कवि के विचारों और भावों को वहन करने में समर्थ होनी चाहिये। वर्तमान युग में चित्रात्मकता, ध्वन्यात्मकता तथा व्यंग्यात्मकता आदि गुणों को प्रमुखता दी जाती है। भारतीय आचार्यों ने प्रसाद, ओज तथा माधुर्य गुणों को महत्व दिया है। प्रस्तुत कृति में कवि ने अपने विचारों, महाभारतकालीन परिस्थिति, पात्रों के व्यक्तित्व को साकार करने वाली भाषा का सफल प्रयोग किया है। सम्पूर्ण कृति में तत्सम शब्दों की बहुलता है, कहीं-कहीं बंगला की विभक्तियों से इसे संवारा गया है। चित्रात्मकता तथा ध्वन्यात्मकता की एक झलक इन

पंक्तियों में मिलती है—

"प्रत्येक मोड़ पर
दक्ष पुत्रियों सी मिलने वाली ये उद्दाम
किन्तु सकोची नदियां;
चट्टानों पर नाचते पत्तों का
गूंजा धुला सा यह कोलाहल
हर क्षण
घाटी या कि नदी में
गिर जाने वाली ये
पर्वत थामे चली जा रही हैं।"

× × ×

"हिमता ऊर्ध्वमुखी हो
रेंग रही नस नस में से,
चेतना और
ठिठुरकर गले जा रहे अंग
आसन्न देह
विक्षुब्ध चेतना के क्षतविक्षत पर्दे।"

कवि ने अपनी भाषा को संवारने के लिये किसी कृत्रिमता का आश्रय नहीं लिया। भावों के प्रवाह के अनुकूल भाषा उसका अनुसरण करती दिखाई देती है, कहीं कहीं उसकी व्यंग्यात्मकता अत्यंत तीव्र हो जाती है जैसेः

"मेरी यह हिम परीक्षा
तुम क्यों लेना चाहते हो?
सीता की अग्नि परीक्षा से
राम को ही क्या प्राप्त हुआ
जो तुम
अपनी कृष्णा की हिम परीक्षा ले रहे हो?"

द्रौपदी के उक्त कथन मे पुरुष के प्रति नारी के तीव्र व्यंग्य की अभिव्यक्ति हुई है, यह व्यंग्य भी ऐसा है जो किसी पत्नी के मुख से पति को ही मिल सकता है। चिरकाल से पुरुष ने नारी पर अविश्वास किया, कभी अग्नि परीक्षा ली तो कभी हिम परीक्षा। यह और कुछ नही केवल पत्नी के प्रति अविश्वास है, अविश्वास करने वाला परीक्षा ले तो उसे कुछ भी नही मिलता।

'महाप्रस्थान' में ऐसे अनेक स्थल है जहाँ भाषा के सौन्दर्य को देखा जा सकता है। शास्त्रीय दृष्टि से इस कृति की भाषा में प्रसाद और माधुर्य गुणों का सफल आयोजन हुआ है।

अलंकार—भाषा के पश्चात कलापक्ष का प्रमुख तत्व है अलंकार-योजना। आचार्यों ने अलंकार को काव्य का शोभाकारक अंग माना है। केशव तथा उसके अनुयायी तो अलंकार को ही काव्य की आत्मा मानते थे किन्तु ऐसा करने से काव्य में कृत्रिमता, असमर्थता तथा प्रदर्शन का प्राधान्य हो जाता है। यही कारण है कि अलंकारों को अधिकांश विद्वानों ने काव्य के शोभाकारक धर्म को ही स्वीकार किया है। 'महाप्रस्थान' के प्रणेता ने अलंकार योजना के लिये प्रयास को प्रमुखता नहीं दी, अपितु सहज भावाभिव्यक्ति के प्रवाह में अलकार स्वतः सजते गये हैं। चमत्कारक, कृत्रिम अथवा आयास सिद्ध अलंकारों की अपेक्षा सहज-स्वाभाविक अलंकारों का अमित भण्डार प्रस्तुत रचना में प्राप्त होता है। इसमें भी सादृश्यमूलक अलंकारों को प्रमुखता मिली है। उदाहरणतः महाप्रस्थान के कतिपय अलंकारों की झलक निम्नलिखित है :

अनुप्रास—

हिम केवल हिम
केवल चलना
इस कठोर, ठंडी तापस प्रशान्तता पर
केवल चलना ऊर्ध्व
ऊर्ध्वतम ही है चलना।

पुनरुक्तिप्रकाश—

पत्थर के प्रपात-सा
टूट-टूट कर गिरना
वह कच्ची कगार का
जैसे युद्ध क्षेत्र में तेज संवारा
नरमुण्डों को टकरा टकरा बजा रही हो।

वक्रोक्ति—

अन्धापन वह
आत्मा का था,
सामूहिक अन्धेपन के ये
ये प्रतीक ?

उपमा—

ये उभार
देवात्म का जैसे खड़े हिमशिखर
देवसभा चरितार्थ कर रहे
तापसगन बाने गायत्रिन
इस कैलास शिखर पर
रचा हुआ नक्षत्र-जटित
यह धर्मचक्र नासदीय-सूक्त सा ।

मानवीकरण—

मेष राशि जिसका ललाट
उस कालपुरुष का
वृष मुखमण्डल
कर्म हृदय है
....
....
विकराल मकर जघनों से मंथता
दिशाकाल की महा अरणियां

विभावना—

जीवन का यह वासुदेव
धूर्जटी भाव से
स्वयं अजन्मा होकर भी
जो घटित हो रहा
आक्षण, प्रतिपल, दिग्मण्डल में ।

काव्यलिंग—

मनुज यहाँ वर्जित
क्योंकि वनस्पति तक ही है
उसकी सीमाएं;
किन्नर, गंधर्वो और यक्षदेव के सोपानों से ही
जाना होता ऊर्ध्वलोक में
सौंप दिये पथ वनानियों में ।

इस प्रकार के अनेक प्रसंगों में अलंकारों का सहज सौन्दर्य दर्शनीय है। भावाभिव्यक्ति की सहजता, मार्मिकता के लिये कवि को बिम्ब योजना में विशेष सफलता मिली है। भाषा भावों की अनुकूलता में इस प्रकार गतिशील है कि पाठक के हृदय तथा मस्तिष्क को भावविभोर करती जाती है। श्री नरेश मेहता के काव्य में परम्परागत तथा नवीन अलंकारों की सहज छटा अत्यंत लुभावनी है। इस आधार पर यह कहना उचित ही होगा कि 'महाप्रस्थान' काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से पूर्णतया सफल काव्य है।

महाप्रस्थान : भाषा सौन्दर्य

हिन्दी साहित्य मे नयी पीढी के कवियों में सर्वाधिक शिल्प सजग कवि श्री नरेश मेहता की नवीनतम कृति 'महाप्रस्थान' है। उदात्त मानवीय विचारों, स्वस्थ सामाजिकता तथा सक्रिय-शिल्प का अद्भुत संगम प्रस्तुत कृति मे प्राप्त होता है। वस्तुतः इस कृति मे व्यक्त कवि के सशक्त विचारों और कला तथा कल्पना के उत्कर्ष से ही उन्हें मूर्धन्य स्थान प्राप्त हो गया है। 'महाप्रस्थान' मे कवि की भाषा का मूल्यांकन करने से पूर्व काव्य मे भाषा के महत्व, भाषा के अपेक्षित गुणों तथा कवि द्वारा उन सबके निर्वाह पर दृष्टिपात करना होगा।

विचार-विनिमय तथा आत्माभिव्यक्ति मानव के सहज गुण माने जाते हैं। मानव अपनी अनुभूतियों, कल्पनाओं के उत्कर्षापकर्ष आदि को भाषा का सुन्दर सुघड आवरण पहना कर प्रकट करता है, सुखानुभूति पाता है। भाषा ही एकमात्र ऐसा साधन है जिससे कवि अपने मनोगत भावों को प्रकाशित करता है, सामाजिक से सम्पर्क स्थापित करके उसके हृदय मे भी रसात्मकता का संचार करता है। अमूर्त भावों को मूर्त-रूप देकर सामाजिक के समक्ष प्रस्तुत करता है। इन्हीं कारणों से भाषा को काव्य पुरुष का शरीर कहा जाता है। भावानुकूल भाषा कवि और सामाजिक के भावों को सहजानुभूति प्रदान करने मे समर्थ मानी जाती है। सरसता, सरलता, सहजता एवं सार्थकता आदि गुणों से भरपूर भाषा ही भावो की समर्थ वाहक हो सकती है। भाषा प्रत्यक्षीकरण का सर्वोत्कृष्ट माध्यम है, इसमें जितनी रमणीयता, मोहकता तथा प्रभावात्मकता होगी, भावों की रसात्मकता में उतना ही उत्कर्ष होगा। वस्तुतः भाषा कवि की तूलिका है, जिससे वह अपने अमूर्त भावों को आकार प्रदान करता है।

हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल मे पूर्व व्रजभाषा का एकच्छत्र साम्राज्य

स्थापित था, उसके अतिरिक्त किसी अन्य बोली मे कविता की कल्पना भी नही होती थी। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जी ने खड़ीबोली को साहित्य क्षेत्र मे प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया, आगे चल कर तो खड़ीबोली को खड़खडी, खुरदरी, भाषा कहकर काव्य में अनुपयुक्त कहा जाने लगा। आचार्य महावीर प्रसाद जी द्विवेदी के अनथक प्रयत्नो से हिन्दी खड़ीबोली का एक रूप बन सका, किन्तु कविता क्षेत्र मे तब तक भी खडीबोली को सम्मानित स्थान न मिल सका। सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिह उपाध्याय 'हरिऔध', रामनरेश त्रिपाठी, माखन लाल चतुर्वेदी प्रभृति अनेक कवियो की अनवरत साधना से खड़ी बोली को काव्य जगत मे स्वीकार किया जा सका। इस काल की भाषा व्याकरण सम्मत, भावों अथवा विचारो की सशक्त वाहिका तो बनी किन्तु उसमे व्यंग्यात्मकता, चित्रमयता, संगीतात्मकता का अभाव ही रहा। इस कमी को छायावाद युग के कवियो ने पूर्णता प्रदान की।

छायावाद युग मे एक भाषागत क्राति हुई। अंग्रेजी के रोमाटिक साहित्य, बंगला साहित्य के माधुर्य तथा संस्कृत काव्य की व्यंग्यात्मकता तथा दार्शनिक चिन्तन की प्रतीकात्मकता आदि से प्रभावित कवियों ने खडीबोली को चित्रात्मकता, संगीतात्मकता, व्यंग्यात्मकता तथा मार्दव आदि गुणों से सम्पन्न बनाकर, खडीबोली को साहित्य सिहासन पर प्रतिष्ठित कर दिया। ब्रजभाषा का शताब्दियो पुराना एकच्छत्र साम्राज्य समाप्त हो गया। खडीबोली को गौरवान्वित करने वालो मे श्री जयशंकर प्रसाद, सूर्यकात त्रिपाठी निराला, सुमित्रानन्दन पन्त एव सुश्री महादेवी वर्मा का नाम प्रमुख है। प्रसादजी ने खड़ीबोली को दार्शनिक गाम्भीर्य दिया, निरालाजी ने दार्शनिक ओज प्रदान कर उसे सशक्त बनाया, पंतजी ने कोमलकान्त पदावली से भाषा को सौन्दर्य, सरसता तथा कोमलता प्रदान की जबकि श्रीमती महादेवी वर्मा ने वेदना और करुणा से खड़ीबोली की आत्मा का परिष्कार किया। इन्ही कवियो के योगदान से हिन्दी राष्ट्र भाषा बन सकी और हिन्दी साहित्य विश्व साहित्य मे सम्मानित स्थान पा सका।

छायावादी काव्यधारा में वायवी, काल्पनिक तथा अतीन्द्रिय जीवन की अभिव्यक्ति मुख्य रूप से होने लगी। ऐसा प्रतीत होने लगा जैसे जीवन और जगत के संघर्षो से पलायन करते हुए कवि कही दूर सागर की एकांत लहरियों, चन्द्रकिरणों की अठखेलियों में प्रश्रय ढूढ रहा है। भाव् जगत के समान उसकी

भाषा में सहजता, स्वाभाविकता का अभाव होने लगा। प्रकृति, प्रेम, सौन्दर्य, तथा दर्शन की अभिव्यक्ति में लीन कवि की भाषा जीवन से दूर हटती गयी। छायावाद की प्रतिक्रिया में उद्भूत प्रगतिवादी कवियों ने काव्य और काव्यभाषा को यथार्थ के धरातल पर स्थापित किया। यहां आकर शब्द भण्डार, छन्द-विन्यास, शिल्प-सौष्ठव, बिम्बविधान तथा प्रतीक योजना सभी कुछ परिवर्तित हो गये। सर्वश्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', नरेन्द्र शर्मा, शिवमंगल सिंह सुमन, भगवतीचरण वर्मा आदि कवियों ने भाषा को यथार्थ की भित्ति पर खड़ा करने का सफल प्रयास किया है। किन्तु छायावादी काव्य की प्रतिक्रिया तथा यथार्थ के आग्रह ने प्रगतिवादी कवियों की काव्य-भाषा को गद्य की रूक्षता अथवा निरसता से भर दिया।

प्रयोगवादी अथवा नयी कविता के कवियों ने हिन्दी काव्य को एक नयी दिशा प्रदान की, इस वर्ग के कवियों ने शिल्पसौन्दर्य को विशेष महत्व दिया। संघर्षमय जीवन की परस्पर विरोधी, आशा-निराशा, पलायन-संघर्ष, सामाजिकता एवं वैयक्तिकता की अनुभूतियों को कवियों ने नये उपमानों, प्रतीकों का प्रयोग करते हुए साहित्य को समृद्ध बनाया। नये कवियों में भी श्री नरेश मेहता का अपना विशेष स्थान है। इनकी कविताओं में धरती एवं मानवता के प्रति सहज प्रेम, मानवता के उज्ज्वल भविष्य के प्रति गहन आस्था और विश्वास, व्यापक सामाजिकता में लीन होने की उत्कट अभिलाषा को भली प्रकार देखा जा सकता है। प्रकृति के लिये अनुराग, उदात्त मानवीय भावनाओं के प्रति आग्रह आदि को इनकी कविताओं में विशेष स्थान मिला है। नयी कविता के भावसौन्दर्य के अनुरूप भाषा अथवा शिल्प सौन्दर्य को साकार करने में भी श्री नरेश मेहता को विशेष सफलता मिली है।

अपनी भाषा और शिल्प-सौष्ठव का निर्माण करने में कवि ने विशेष श्रम किया है। उनकी भाषा सहज, स्वच्छ और काव्यात्मक है। प्रारम्भिक रचनाओं में श्री नरेश मेहता की भाषा में बंगला भाषा की विभक्तियों का प्राधान्य रहा जिसे साहित्य-जगत ने उचित न माना। आगे चल कर कवि शिल्प-सौष्ठव के प्रति विशेष सतर्क हो गया, शब्दशिल्प, बिम्बनिर्माण, रूपक-योजना में उसकी तूलिका अधिकाधिक सक्षम होती गयी। इनके अप्रस्तुतों तथा रूपकों ने तो काव्य को नवीन समृद्धि प्रदान की है। समृद्ध कल्पना, स्वस्थ विचारों के अनुरूप भाषा सौन्दर्य को निखारते हुए कवि ने हिन्दी भाषा को गौरवान्वित किया है।

श्री नरेश मेहता के साहित्य का अध्ययन करने से ऐसा विश्वास होता है कि भाषा का संसार नाद्यमय चित्र है, ध्वनिमय स्वरूप है। भाषा विश्व की हृतन्त्री की झंकार है, जिसके स्वर में वह अभिव्यक्त होता है। विश्व की सभ्यता के विकास और ह्रास के साथ वाणी का भी युगपत् विकास तथा ह्रास होता है। भाषा की गरिमा का मुख्य आधार होता है शब्द-भंडार। इसके लिये श्री नरेश मेहता ने संस्कृत के अक्षय शब्द भण्डार को मुख्य आधार बनाया है। संस्कृत के विशुद्ध तत्सम शब्दों से कवि ने अपनी भावनाओं को साकार बनाया है। उदाहरणतया—

"हिम, केवल हिम
पौराणिक, विराट्तर-ऐकान्तिकता
हिमांधियों के गौरव चर्म लपेटे
अक्षत आदिस्वत। में
इतिहासों पर अट्टहास करती
सद्य नख सी चीथ रही
सब दिशा काल को।"

तत्सम शब्दों का प्रयोग कृत्रिमता से सर्वथा दूर, ऐसा प्रतीत होता है मानों कवि ने संस्कृत साहित्य और दर्शन का गम्भीर अध्ययन किया है, इससे उनकी भाषा मे स्वाभाविकता तथा सरसता बढ़ गयी है। प्रकृति-सौन्दर्य का मानवीकरण करते हुए कवि की भाषा एक ऐसा चित्र बना देती है जिसमें सामाजिक भाव-सौन्दर्य की सहज झलक पा लेता है, जैसे—

"हिम, केवल हिम
मृगवर्णीय धूप
देवकन्याओं-सी फिसल रही है
चांदनियों की पारदर्शिका मलमल के
लावण्यमयी एकोरुत्त-द्रोणियां
अंग चुरातीं।
एकाकी उपत्यकाओं का
वह निर्मम सूनापन
वशीकरण के मंत्र-सरीखा जादू करता।"

उपरोक्त पंक्तियों में भाषा के सहज प्रवाह, संगीतमय शब्द-चित्रों का आकर्षण इस बात का साक्षी है कि भाषा पर कवि का पूर्ण अधिकार है, भाषा उसके भावों की अनुगामिनी है, जिससे कवि अपनी कल्पना को साकार करता चला जाता है।

चित्रात्मकता, ध्वन्यात्मकता को समृद्ध भाषा की कसौटी माना जाता है। श्री नरेश मेहता ने 'महाप्रस्थान' में एक ओर वैभव-विलास को अपनी भाषा में साकार किया है तो दूसरी ओर विभिन्न चरित्रों को संक्षिप्त किन्तु व्यंग्यात्मक शैली में सजीव रूप में प्रस्तुत कर दिया है। उदाहरणतया—

"जैसे कोई दर्पण का
मायावी राजभवन था,
जिसमें राजाओं, सेनापतियों और सुन्दरियों की
माणिक नीलम छायाएं
दीपित थीं
प्रतिदीपित थीं।
इन दर्पण मायाओं के
रंग विरंगे कोलाहल के बीच
निरंतर दुर्योधन, दुःशासन और शकुनि की
कूट नीतियां
सर्प सरीखी रेंगा करती।"

इसमें कौरव साम्राज्य का अतुल वैभव और उसमें सत्ताभिमान में अन्धी कूटनीति की गति का परिचय दिया गया है। इसी प्रकार कवि ने महाभारत के कुछ पात्रों को भी शब्दों द्वारा चित्रित किया हैं जैसे—

"किन्तु युधिष्ठिर तो थे
प्रज्ञाचक्षु
फिर भी विनाश ? ?
विकल्पी मन वाले वे कर्मपंगु थे।
× × ×
"पर विदुर
सत्य की मूर्ति
निस्पृह तटस्थ

क्यों मूक रहे ?

× × ×

"पर सबके पीछे चली आरही
पाण्डवदल की सांसारिकता
भार्या, प्रिया, सेविका
और पण्डिता
द्रुपदसुता
द्रौपदी
सेविका धर्मराज की
भीमसेन की चतुर स्वामिनी
एकनिष्ठ वह पार्थप्रिया
पाण्डवी—"

राज्यसत्ता, व्यक्ति, समाज और शासन आदि पर विचार करते हुए श्री नरेश मेहता की भाषा मे सरलता तथा सवादो के लिये आवश्यक संक्षिप्ति का भी सुन्दर निर्वाह हुआ है। 'महाप्रस्थान' मे युधिष्ठिर और द्रौपदी, युधिष्ठिर और भीम, द्रौपदी और अश्वत्थामा के संवादों मे त्वरा और सरलता का समावेश है। किन्तु जब कोई पात्र आत्मचिन्तन अथवा अपने से ही बात करता है तो वहां गम्भीरता बढ गयी है। युधिष्ठिर का आत्मचिन्तन दार्शनिक गाम्भीर्य से युक्त है, किन्तु जब वह द्रौपदी, भीम अथवा अर्जुन से वार्ता करते हैं तो उनकी भाषा मे तर्क की सबलता आ जाती है। द्रौपदी और अश्वत्थामा का संवाद तो परस्पर व्यंग्य करने का सुन्दर उदाहरण है। इन सबकी एक झलक निम्नलिखित काव्यांशों मे देख सकते हैं।

जीवन में नाना प्रकार की विषमताओं को झेलते हुए द्रौपदी का मन आक्रोश में भरकर बीते जीवन का चिन्तन करता है तो सभी पाण्डवो का चरित्र कुछ ही पंक्तियों में सिमट जाता है—

"धर्मराज थे साधु
चरण सेवा के कांक्षी,
भीम, वीर
पर छू न सके पत्नी की रागात्मकता
नकुल और सहदेव

कृपा के पात्र
किन्तु,
हां, पार्थ न होते
तो अपूर्ण ही रह जाती मैं—
तन-कदम्ब की पुष्पित ऋतु से।"

युधिष्ठिर और भीम के संवादों में कवि की भाषा, राजनीति, धर्म, दर्शन आदि को अपने में समेटती हुई सामर्थ्य का परिचय देती है—

"भीम !
मैं राज्यान्वेषी नहीं
मूल्यान्वेषी रहा हूं
राज्य जैसी अपदार्थता के लिए
अपने ही रक्त
कौरवों का नाश ???
मेरे लिये असम्भव था बन्धु।"

व्यक्ति के पुरुषार्थ और संकल्प का संसार में क्या अर्थ है ? क्या महत्व है ? इसका स्पष्टीकरण करते हुए युधिष्ठिर का व्यंग्य बडा सटीक हो गया है। जैसे—

"पुरुषार्थ और संकल्प
क्या सच ही कुछ होते हैं ?
तब क्यों नहीं
गाण्डीव के होते
अपनी प्रिया को हिमपात से मुक्त करा सके ?"

इस प्रकार महाप्रस्थान के प्रणेता ने भाषा का सशक्त आकर्षक, संगीत व्यंग्य की सरसता से युक्त रूप प्रतिपादित करने में सफलता पायी है। बिम्ब-योजना अथवा प्रकृति का चित्रण करते हुए कवि की भाषा में प्रकृति के रूप, सौन्दर्य, गति एवं ध्वनि को साकार करने में पूर्णतया सफल हुई है। वस्तुतः भाषा के स्वरूप-विन्यास को देखकर ही श्री नरेश मेहता को सर्वाधिक शिल्प-सौष्ठव के लिए सजग कवि कहा जा सकता है।

प्रतिहिंसा अथवा प्रतिकार को जन्म देता है। प्रतिकार की ज्वाला से तप्त मानव के लिये शांति है तो केवल एक ही स्थान पर; किसी महान शक्ति के लिये सम्पूर्ण समर्पण। द्रौपदी को विवशता में नष्ट होना पड़ा जो समय पर होना ही था, यदि समर्पण भाव से नाश भी होता है तो उसमे सुखानुभूति ही होती है।

राज्य से बडा धर्म होता है, विचार होता है। करुणा पर आधारित धर्म किसी भी शक्ति के सामने झुकता नही, तात्कालिक धर्म के अनुसार यदि युद्ध करना भी पडे तो अनासक्त भाव से उसे केवल कर्तव्य समझकर करने से कभी भी अशांत अथया अहंकारी नहीं वनते। व्यक्ति अपने पुरुषार्थ और संकल्प को प्रमुखता मानकर कभी-कभी दूसरो पर अधिकार जताने का प्रयास करते है किन्तु केवल पुरुषार्थ असफल हो जाता है, किसी का स्वतंत्र विचार सफलता प्राप्त कर लेता है। वस्तुत व्यक्ति का पुरुपार्थ और संकल्प केवल व्यक्ति का रहकर उत्पात करता है और जब वही पुरुषार्थ या संकल्प सपूर्ण समष्टि के साथ समरस हो जाता है तो उसका महत्व बहुत ही बढ जाता है। युधिष्ठिर के शब्दो मे—

"सव्यसाची !
प्रकृति से बड़ा
कोई व्यक्ति नहीं होता
कोई शस्त्र नही पार्थ !
जो प्रकृति के धर्म का भेदन कर सके।
प्रकृति के धर्म का भेदन करना
परात्पर होना है,
और वह शस्त्र से सम्भव नहीं।"

व्यक्तित्व का सम्पन्न होना तभी सम्भव है जब मानव सासारिक वस्तुओं से अनासक्त हो जाये, युद्ध, राज्य, साम्राज्य, सम्पदा आदि से अपना नाता तोड़ दे। जब ये जड़ वस्तुए गौण हो जायेगी, चेतन को प्रमुखता मिलेगी तभी तो यह चेतन मानव विश्व जीवन से एकाकार कर सकेगा। इनके अतिरिक्त शासक-शासित, निर्धन-धनवान, दुर्वल-शक्तिशाली, सद्-असद् आदि के परस्पर सम्बन्धो को 'महाप्रस्थान' मे भली प्रकार चित्रित किया गया है। कवि ने राजनीतिक शक्तियों के अकूत विकास, मानव की स्वतंत्रता का हनन तथा दोनों

के दुष्परिणाम को भी दर्शाया है। राज्य अथवा शासन के कर्म, युद्धों की ज्वाला से उत्पन्न त्रास आदि से मुक्ति पाने का एकमात्र उपाय है राज्य के साथ धर्म के विचारों की स्वतंत्र अभिव्यक्ति। ऐसा होने पर ही जीवन में समरसता और सुख का संचार हो सकेगा।

संक्षेप में, यह कह सकते है कि कवि ने वर्तमान जीवन मे बढती हुई राजनीतिक शक्तियों को मानवमात्र में विकेन्द्रित करने पर बल दिया है। ऐसा करने से ही मानव मुक्ति रूपी लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

महाप्रस्थान : नामकरण

किसी भी कृति के आकर्षण, प्रभाव एवं उद्देश्य की स्पष्टता की दृष्टि से उसका नामकरण विशेष महत्व रखता है, जिस प्रकार सृष्टि के प्रत्येक प्राणी अथवा वस्तु की संज्ञा का होना अनिवार्य है। यह संज्ञा गुण कर्म और स्वभाव के अनुरूप हो तो उसके प्रति सामाजिक के हृदय में उसका विशेष स्थान बनता है। ऐसा न होने पर वस्तु विशेष का महत्व स्वतः ही समाप्त हो जाता है। साहित्यिक कृति तो स्रष्टा की कल्पना तथा भावात्मकता से जन्म लेती है, इसलिये अपनी मानस सृष्टि के नामकरण का अधिकार उसके जनक को स्वतः प्राप्त हो जाता है। साहित्य जगत मे यह स्वीकार किया जाता है कि किसी भी रचना का नाम संक्षिप्त, सरस तथा भावानुकूल होना चाहिये, इसके अभाव मे वह कृति विशेष सम्मान नही पा सकती, नामकरण की सार्थकता ही कृति की सफलता का प्रथम सोपान है।

विद्वानो ने साहित्यिक कृति का नामकरण करने के अनेक नियमों की चर्चा की है। सामान्यतः नामकरण के चार मुख्य आधार माने जाते हैं—

१. प्रमुख पात्र के नाम पर आधारित—प्रसाद जी के नाटकों के नामकरण बहुधा इसी आधार पर हुए है।

२. स्थान विशेष के आधार पर भी नामकरण होता है—जैसे श्री जगदीश चन्द्र माथुर के नाटकों का नामकरण नाटक में वर्णित कथा के मुख्य स्थान के आधार पर किया गया है।

३. कभी कभी प्रमुख घटना के आधार पर भी नामकरण किया जाता है जैसे मुंशी प्रेमचन्द कृत 'गबन' अथवा हरिकृष्ण प्रेमी कृत 'रक्षाबन्धन'।

४. उद्देश्य अथवा प्रतिपाद्य विषय के आधार पर भी रचना का नामकरण किया जाता है। आधुनिक युग में प्रतीकात्मक शैली पर भी नामकरण किया गया है।

उपरोक्त नियमों की सीमा कवि कल्पना को संकुचित नही करती। सफल कवि अथवा कथाकार वही माना जाता है जिसकी कृति का नामकरण अपने सीमित आकार मे भी जीवन की व्यापकता को समेटने में समर्थ है।

श्री नरेश मेहता की प्रारम्भिक रचनाओं मे प्रकृति के विभिन्न रूपो अथवा कार्य-व्यापारो को प्रमुखता दी जाती थी। प्रस्तुत रचना का नामकरण महाभारत की सुप्रसिद्ध घटना महाप्रस्थान के लिये पाण्डवों का राज्य त्याग कर स्वर्गारोहण के लिये प्रयास करना है। प्रस्तुत कृति का आधार शुद्ध रूप से ऐतिहासिक अथवा प्रख्यात है। कवि ने अपनी प्रतिभा, कल्पना एवं सामाजिक मान्यता के अनुसार एक सामान्य घटना मे भी जीवन की एक व्यापक तथा शाश्वत समस्या को प्रतिपादित किया है। इसमें केवल पाण्डवो के महाप्रस्थान का ही वर्णन नही है अपितु मानव-जीवन मे व्याप्त अहंकार तथा अधिकार के संघर्ष से उत्पन्न असंतोप से मुक्ति का भी चित्रण है। दार्शनिक रूप मे भी प्रकृति और जीव की परमसत्ता मे परिव्याप्ति ही जीव का चरम लक्ष्य है, इसके लिये जीव को भौतिक जीवन के सुखो, आकर्पण, अथवा सम्बन्धों को छोड़ना होता है। व्यक्तित्व को समग्र रूप मे परम सत्ता के प्रति समर्पित करना होता है। सांसारिक दृष्टि से व्यक्ति, समाज, राज्य, शासन, सत्ता के पारस्परिक सम्बन्धों एवं पारस्परिक सहयोग से ही सुख-समृद्धि की वृद्धि संभव होती है। 'महाप्रस्थान' के प्रणेता ने इन सभी रूपों को अपने काव्य मे समन्वित किया है। ससीम असीम को पाने के लिये अपनी क्षुद्रता को त्यागकर महानता की ओर अग्रसर होता है। संसार के सभी सुख, शक्ति तथा साधन पाकर भी जिज्ञासु के हृदय मे अशान्ति भरी रहती है, यही कारण है कि युधिष्ठिर साम्राज्य को क्षुद्र समझ कर उसे त्याग देते है और उस पूर्ण शान्ति प्रदाता की खोज मे चल देते है। इसी प्रस्थान की महानता 'महाप्रस्थान' की आधार वन जाती है।

'महाप्रस्थान' की कथा का प्रारम्भ युधिष्ठिर की यात्रा का ही चित्रण है। हिम प्रदेश, वनस्पतिहीन धरित्री, अनजाने इतिहास से निरन्तर शान्त किसी महाचैतन्य की प्रतीक्षा मे सोयी हिमानी, गगन को मिलने की आतुरता में खड़े हिमशिखर सभी मे किसी अज्ञात सौन्दर्य, सुख और शाति की खोज मे पाण्डवदल चल रहा है। केवल चलना, ऊर्ध्व से ऊर्ध्वतम चलने का निश्चय ही जिनका एकमात्र सम्वल है, ऐसे पथ पर अग्रसर युधिष्ठिर का चिन्तन कथा के

नामकरण की पुष्टि करता है। कवि ने प्रकृति के विभिन्न रूपों की गति, क्रिया, ध्वनि आदि में भी प्रस्थान के लिये तत्पर दिखाया है। कवि के शब्दों में—

"यह त्रिपुण्ड-सी खिंची
हिमालय के ललाट पर
उत्तर दिशि
स्वीकार जिसे केवल निर्माल्य
व्यक्ति का !
चरैवेति ! !
धर्मराज ! इस स्वर्गारोहण के पक्ष पर है
चरैवेति !"

कथा के विकास के साथ ही प्रस्थान मार्ग की विविधता का चित्रण भी सजीव और आकर्षक है। पीछे छूट गयी सांसारिकता के आकर्षण, सुख-सौन्दर्य की स्मृतियोंमे मोह, सामने दीखने वाली परिवर्तन शील प्रकृति की भव्यता मन में जिज्ञासा बढ़ाती है, जीव अपने साध्य का चिन्तन करता हुआ अपने को साध्य के अनुकूल बनाने को तत्पर होता है। कवि ने अत्यन्त चतुरता से मार्ग की गहनता में सरसता की गति लाने के लिये कुछ विचार-विनिमय अथवा संवादों की योजना की है। ये संवाद किसी न किसी प्रकार महाप्रस्थान की भावना को ही व्यक्त करते है। प्रारम्भ में पाण्डवदल के सामने उपस्थित प्रकृति की भव्यता, अगम्रता आदि का चित्रण है किन्तु प्रथम सर्ग की समाप्ति के साथ ही पाण्डवदल की थकावट, लगन तथा लक्ष्य को पाने की लालसा आदि को कवि ने अत्यन्त मार्मिक रूप प्रदान किया है। जैसे—

"अब केवल हिम की
उजाड़,दुर्दम्य, पाथरी एकान्तिकता
जिस पर
पतली पिपीलिका-रेखा-सा चलता
नतशिर बन्दी-सा
पाण्डवदल ।"

पथ पर चलते हुए यात्री बीते जीवन की नाना प्रकार की स्मृतियों में खोये हुये ही नहीं रहते, उनके सद्‌असद् पक्ष पर विचार भी करते है। राज्यसुख भोग से लेकर अंधी सत्ता के अन्याय तथा उसके दुष्परिणामों पर भी विचार

होता है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे पर्वत यात्री अपने पथ पर बढ़ते हुए बीते जीवन का सिंहावलोकन कर लेना चाहता है। पंथ की दुर्गमता में पाण्डवदल का एक-एक व्यक्ति क्रमशः गिरता जाता है और धर्मराज उसे समझते जाते हैं कि उसकी यात्रा में अथवा उसके व्यक्तित्व में क्या कमी थी। अन्त में युधिष्ठिर अकेले रह जाते हैं। प्रकृति माता के समक्ष उनकी केवल यही प्रार्थना थी कि—

"मां !
मेरी प्रज्ञा-अग्नि का यह स्तवन स्वीकारो।"

साध्य के लिये समर्पित, सामाजिकता से युक्त वैयक्तिक एषणाओं से निस्पृह धर्म को साथ रखने के लिये दृढ़ युधिष्ठिर अपने को समर्पित कर देता है। प्रकृति के कण-कण में नव-चैतन्य का संचार हो जाता है, पवित्रता का जाज्वल्य रूप सभी को अपने में समाहित करने को तत्पर दिखाई देता है। ऐसे ही वातावरण में स्वर्ग के द्वार का खुलना और युधिष्ठिर द्वारा स्वयं को स्वाहा कर देने में ही महाप्रस्थान की परिणति होती है। इस प्रकार कवि ने महाप्रस्थान के नामकरण को वस्तुविन्यास, पात्रों के चरित्र-चित्रण तथा उद्देश्य के प्रतिपादन में पूर्ण सहायक और सफल रूप प्रदान किया है।

व्याख्या-भाग

यात्रा पर्व

हिम, केवल हिम............प्रति शिखर गगनाकुल। (पृ० ३१-३२)

शब्दार्थ—शिव:स्वरूप=कल्याणकारी रूप में। हिमाच्छादित=वर्फ से ढका हुआ। धरित्री=भूमि, पृथ्वी। थुलमों=पहाड़ी कम्वल, जिस पर बाहर से बाल जमाए जाते हैं। गौर-प्रलम्व=गौर वर्ण वाली लम्बी। ब्रह्माण्ड-सिंधु=ब्रह्माण्ड रूपी सागर। राशिभूत=अत्यधिक। गगनाकुल=आकाश तक।

प्रसंग—युधिष्ठर, भीम आदि पाण्डव अपने जीवन की अन्तिम यात्रा पर हिमालय पर निकल पड़े हैं। पाण्डव महान् हैं। उनके आगमन से पूर्व कवि वनस्पति का, हिमालय की नैसर्गिक छटा का, शुभ्र वर्णन करते हुए लिखता है :

व्याख्या—अब चारों ओर केवल, केवल वर्फ ही वर्फ दिखाई दे रही है और वह अपने कल्याणकारी रूप में। वनस्पति को धारण करने वाली भूमि इस स्तर पर रंग और गंध से रहित है, क्योंकि यहां वनस्पति नहीं है। पृथ्वी भोजपत्र पर जमे हुए वर्फ के समान ऐसे लग रही है जैसे कोई तपस्या कर रही हो। पता नहीं किसी इतिहास की प्रतीक्षा में यहां शताब्दियों से वर्फ ऐसी जमी पड़ी है जैसे पहाड़ी कम्वल हो जिस पर श्वेत ऊन के रोएं बाहर से चिपका दिये गये हों। दूर-दूर तक फैली पर्वतमालायें ऐसी प्रतीत होती हैं जैसे शिव की गोरी लम्बी भुजाएं दूर तक फैली हों। ये नीले आकाश पट्ट पर पृथ्वी की कहानी-सी लिखती प्रतीत होती हैं। नीलम रंग के आकाश के ब्रह्माण्ड रूपी सागर में अत्यधिक वर्फ का ज्वार लग रहा है जो पर्वत की चोटियों से चोटियों तक, आकाश चुम्बी चोटियों तक फैला है।

विशेष—(१) कवि वर्फ की श्वेतता को देखकर उसे पवित्र और कल्याणकारी कहता है। 'शिव: रूप' कहने में यह आशय है कि इस वर्फ में पाण्डव चिरसमाधिस्थ होकर जन्म-मरण के चक्र से विमुक्त हो जायेंगे।

(२) प्रसाद जी ने 'कामायनी' का प्रारम्भ भी वर्फ के वर्णन से ही किया है—

हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर,
बैठ शिला की शीतल छाँह।

(३) प्रस्तुत पंक्तियों को पढ़कर कॉलरिज की 'राइम ऑव दा एन्शिएण्ट मेरिनर' की ये पंक्तियों की याद हो आती हैं—

दा आर्ट्स वाज स्प्रिंग,
दा आर्न्स वाज देयर,
दा आर्टस वाज आन एराउण्ड,
× × ×
इट वाज एँज ग्रीन एज एमराल्ड।

(४) तत्सम शब्दो के प्रयोग से कथ्य को पाठक-ग्राह्य बना दिया है।

(५) अलंकार—उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा।

याक सरीखे·················· पाठ कर रहा। (पृ० ३१-३२)

शब्दार्थ—धर्म वृषभ=धर्म को धारण करने वाले बैल। धूप-यान=धूप के वायुयान। सूर्य प्रियाए=सूर्य की प्रिय किरणें। मानस=मानसरोवर झील। कन्दरा=गुफा।

प्रसंग—पाण्डवो का निर्वाण हिमालय पर्वत पर हुआ। उनके वहां प्रस्तुत होने से पूर्व हिमालय की ऊंची चोटियों की प्राकृतिक छटा का वर्णन करते हुए कवि लिखता है:

व्याख्या—यहां याक पशु के समान धर्म को धारण करने वाले बैल रहते हैं, यही कही धर्म के सम्बन्ध मे हंस की वाणियों के समान वाणियां सुनाई पड़ती है। यही कहीं धूप रूपी वायुयान पर सवार होकर सूर्य किरणों के समान अप्सराये मानसरोवर झील मे जलपान करने के लिए आती है। शीतल हवायें चलकर कानों में ऐसी ध्वनियाँ गुंजित करती हैं जैसे कोई व्यक्ति हिमालय की गुफा में बैठकर धर्मग्रन्थों का वाचन ऊंचे स्वर मे कर रहा हो।

विशेष—(१) प्रस्तुत अवतरण मे हिमालय पर विद्यमान शांति और शीतलता का वर्णन हुआ है।

(२) ऋषियो का हिमालय पर धर्मपाठ करना व्यंजित है।

(३) अलकार—रूपकातिशयोक्ति, रूपक एवं मानवीकरण।

(४) छंद मुक्तका। इसी छंद का प्रयोग प्रस्तुत ग्रन्थ मे सर्वत्र हुआ है।

हिम, केवल हिम·········· की गोपन बातें। (पृ० ३२-३३)

शब्दार्थ—तापस=तपस्वियों जैसी। प्रशान्तता=गहन शांति। ऊर्ध्व=ऊंचे। मधु-माधव=चैत और वैशाख मास; शहद और माधुर्य। तँबियाये=तांबे के रंग वाले। वनानियाँ=वनस्पतियाँ। वल्कल=वृक्षों की छाल। हितैषी=हित अथवा भलाई करने वाला। उपत्यकाएं=पर्वत पर नीचे जाने

वाला मार्ग । परिधान=वस्त्र । डैनो=पंखों । पाखीदल=पक्षियों के झुण्ड । आकुल=व्याकुल; पूरे कुल का । आरण्यक=वन का ।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण में कवि ने हिमालय की ऊंचाई को व्यक्त करने के लिए उसे वनस्पति से हीन कहा है । यहां प्रकृति का वर्णन करने के लिए कवि ने अवकाश निकाल लिया है । कवि का कथन है :

व्याख्या—चारों ओर केवल हिम ही हिम था । इस कठोर, तपस्वियों के समान शीतल एवं गहन शान्ति पर निरन्तर ऊर्ध्व एवं ऊर्ध्वतम चलते चले जाना है । गौरीशंकर की ऊंचाइयों तक चलते चले जाना है जैसे यह पृथ्वी स्वयं गौरीशंकर की चोटी वन गई है । यहां इस ऊचाई पर केवल बर्फ है । कस्तूरी मृग वाले एवं चैत एवं वैशाख मास में मनाये जाने वाले उत्सवों के जंगल पीछे छूट गए है । ग्रीष्मकाल में तपकर तांवे के रंग वाले झडे पत्तों की वनस्पतियाँ, चीड़ के गिरे हुए फूलों से ढंकी भूमि और औषधियों के काम आने वाली छाल से आवृत वृक्ष, जो सभी को लाभ पहुँचाते थे, सब पीछे ही रह गये है । कहने का आशय यह है कि यहां वहुत ऊंचाई है । अनेक प्रकार के रंग और सुगन्ध वाले पुष्पों से युक्त पर्वतीय मार्ग, जो अपने रंग-सौंदर्य में देव-अप्सराओं के वस्त्रों के समान लगते है, सब नीचे रह गये है अर्थात् इस ऊंचाई पर मात्र हिम और हिम ही रह जाती है, यहां दूसरी किसी वनस्पति का रहना संभव नहीं है । विभिन्न प्रकार के रगों वाले पंखों को धारण करने वाले पक्षियों के झुण्ड और सायंकाल को उनको कलरव से भरने वाले चीड़ के वन—सभी पीछे छूट गए है । उनका कल-कूजन ऐसा लगता है जैसे आश्रम में रहने वाली कन्यायें गुप्त रूप से वातें करती हैं ।

विशेष—(१) यद्यपि यहां वनस्पति नही है तथापि सुन्दर वनस्पति के पीछे रहने वाले रूप के वर्णन में प्रकृति का वर्णन हो गया है ।

(२) भाषा में विम्व प्रस्तुत करने की पूर्ण क्षमता विद्यमान है ।

(३) **अलंकार**—उपमा, उत्प्रेक्षा एवं उदाहरण ।

कैसा अन्धकार उतरा .... कथा कह रहा । (पृ० ३३)

शब्दार्थ—वन-प्रान्तर=वन प्रदेश । असम्पृक्त=जो किसी से मिला न हो । उन्मुक्त=वंधन-रहित; स्वतंत्र । केशिनी=लम्बे और सुन्दर वालों वाली स्त्री । चीनांशुक=रेशमी वस्त्र ।

प्रसंग—पाण्डवों को हिमालय की ऊंची चोटियों पर पहुँचना था । वह

स्थान हिम से पूर्णतः आवृत है। उस स्थान से नीचे स्थित वनस्पतियों, जो पीछे ही छूट गई है, का सुन्दर चित्रण कवि ने किया है। कवि का कथन है :

व्याख्या—सम्पूर्ण वन-प्रदेश में अत्यधिक गहन अन्धकार छा जाता था। सारे वृक्षों को अन्धकार उसी प्रकार भर लेता था जैसे उन वृक्षों को कोहरा आच्छादित कर लेता था। अन्धकार वृक्षों को आलिंगित करता हुआ-सा जान पड़ता था; किन्तु उस वातावरण में नदी और वायु का शब्द इस अंधकार से पृथक ही रहता था। नदी और वायु के शब्द अंधकार में भी बहते रहते थे। जबकि अन्य प्राकृतिक उपादान शिथिल हो जाते थे। उस स्वच्छंद रूप से विचरण करने वाली वायु में चीड़ों के वन निर्झर के सदृश कल-कल का स्वर करते रहते थे और यह ऐसा प्रतीत होता था जैसे अभिसार अथवा प्रिय-मिलन के प्रस्तुत लम्बे और सुन्दर बालों वाली स्त्री का रेशमी वस्त्र हंस-हंस कर प्रेम कथा का वर्णन कर रहा हो।

विशेष—(१) प्रस्तुत अवतरण में कवि ने प्रकृति का मानवीकरण किया है।

(२) अलंकार—उत्प्रेक्षा।

चीड़ फूल सा कैसा.................. थीं ये भी। (पृ० ३४)

शब्दार्थ—उद्दाम=तीव्र। पगवारें=पैदल चलने के मार्ग।

प्रसंग—हिमालय पर्वत की ऊंची चोटियों तक पहुँचने के पहले की प्रकृति, जो पीछे छूट गई है, की सुन्दरता का वर्णन करता हुआ कवि लिखता है :

व्याख्या—हिमालय के निचले स्तर पर चीड़ के पुष्प के समान जो सूर्योदय होता था, वह पीछे रह गया। पर्वत के प्रत्येक मोड़ पर तीव्र गति से प्रवाहित होने वाली संकुचित नदियां, जो दक्षपुत्रियों के समान लगती थी, जब पत्थर की शिला से टकराती थी तो उनसे उठने वाली लहरें फनों के समान लगती थी, उनका कोलाहल लहरों के मध्य से निकलता था जो ऐसा प्रतीत होता था जैसे वह घुला हुआ हो। (पाण्डव प्रत्येक क्षण आगे बढ़ते जा रहे थे तो) हर समय पर्वत पर पैदल चलने के मार्ग, जो किसी नदी के किनारे तक पहुँचते थे अथवा किसी घाटी में उतर जाते थे, सब पीछे ही रह गए जैसे ये सब भी इस विश्व की भौतिकताएं एवं सम्बन्ध थे।

विशेष—(१) नदियों और छोटे-छोटे मार्गों का सुन्दर वर्णन हुआ है।

(२) अलंकार—उत्प्रेक्षा एवं उपमा।

वन, दुर्दम्य भले............वजा रही हों। (पृष्ठ ३४-३५)

शब्दार्थ—दुर्दम्य=गहन, जिसे दवाया न जा सके। कृष्णा=काली। कपिलाओं=गायो। दावानल=वन की आग। प्रपात=निर्झर। कगार=किनारा। नरमुण्डों=पुरुषों के सिरों।

प्रसंग—हिमालय के उच्चस्तर पर पहुँचकर कवि निचले स्तर की प्रकृति एवं वनप्रान्तर की वनस्पति को स्मरण कर उसका वर्णन करता है। कवि का कहना है—

व्याख्या—वन चाहे कितने भी दुर्दम्य और गहन हों, चाहे मानव उन पर विजय प्राप्त न कर सके, फिर भी मनुष्य वहाँ अपना निवास वनाकर रहने ही लगते हैं तभी तो उस क्षेत्र में काली गायों के गले में वंधी घण्टियों का स्वर मानव की उपस्थिति का वहाँ आश्वासन दे जाती थीं। यदि किसी स्थान पर उनके द्वारा आग जलाये जाने पर धुएं की पतली झीनी-सी परत वहाँ ऐसा ही आनन्द देती थी जैसे पारिवारिक-जनों से मिलने पर प्राप्त होता है। जंगल की आग में चर-मराकर टूटने वाले और जलने वाले पेड़ों की मध्य रात्रि के सन्नाटे में आवाज ऐसी लगती थी जैसे दुर्योधन अव भी युद्ध-क्षेत्र में घायल होकर कराह रहा हो। वहाँ नदियों के कच्चे किनारे टूटकर गिरते हुए पत्थर के झरने के समान आवाज कर रहे थे जैसे युद्ध-क्षेत्र में तेज हवाएं धड़ से पृथक मनुष्यों के सिरों को परस्पर टकराकर वजा रही हों।

विशेष—(१) प्रस्तुत अवतरण में कवि ने युद्ध से उपमाएं देकर जंगल की भयंकरता का प्रभावी चित्रण किया है।

(२) अलंकार—उपमा एवं उदाहरण।

छूट गयीं औषधिगंधा.......... ......चरैवेति! (पृष्ठ ३५-३६)

शब्दार्थ—सत्कार प्रिया=आदर-सत्कार करने वाली। वल्कल वस्त्रों=वृक्ष की छाल से निर्मित वस्त्र। हिम-भार=वर्फ के वोझ से। दुस्तर=अत्यन्त कठिन। महाभित्तियाँ=वड़ी-वड़ी दीवारें। श्वेताक्षर=श्वेत अक्षर। पुरा-काल=प्राचीन काल। त्रासद-गाथा=करुणा से पूर्ण कहानी। निर्मल्य=निर्मलता, स्वच्छता। स्वर्गारोहण=स्वर्ग की यात्रा के लिए प्रयाण। चरैवेति=चलते रहो।

प्रसंग—पाण्डव हिमालय के अत्युच्च शिखर पर पहुँच गए हैं। यहाँ कवि पाण्डवों के माध्यम से पीछे छूटने वाली वनस्पति का वर्णन करता हुआ हिम

आंधियों के रौरव-चर्म लपेटे हुए इतिहास और इसमें वर्णित घटनाओं पर व्यंग्य एवं अट्टहास करती हुई सम्पूर्ण दिशाओं एवं मार्गों को बाघ के नाखूनों के समान नोच रही है। देवादिदेव महादेव शंकर की जटाओं के आंतरिक भाग से निकलने वाली गंगा नदी ही यहाँ हिम की नदियों का रूप धारण कर रही है। इन्द्र धनुष के अगिम भागों से (आगे वाले दरवाजों से) निर्झर झर रहे है जो ऐसे प्रतीत होते है मानो अविरल रूप से पवित्र श्लोकों का पाठ अथवा उच्चारण कर रहे हो। यह हिम-प्रदेश सन्यासियों के मन जैसा है जो निर्विकार है और सांसारिक सम्बन्धो से रहित है, बिना मार्ग का है, पदचिह्नों से हीन है। यह हिम-क्षेत्र ऐसा लग रहा है जैसे हिम की भाषा मे उपनिषद् जैसे ज्ञान-ग्रन्थ का निर्माण हो गया है।

विशेष—(१) प्रस्तुत अवतरण मे कवि ने हिम की प्राचीनता, प्रशांतता एवं पवित्रता की ओर संकेत किया है।

(२) संश्लिष्ट-बिम्ब है। यहाँ एक ओर हिम का वर्णन है तो दूसरी ओर भारतीय सस्कृति और मान्यताओं का सांकेतिक रूप में भव्य चित्रण है।

केवल यहाँ अपर्णा·········· मृत्युलोक की। (पृष्ठ ३७-३८)

शब्दार्थ—अपर्णा=पार्वती का एक नाम, पार्वती ने शिव की प्राप्ति के हेतु कठोर तप किया जिसमें उन्होंने पहले पत्ते खाए और बाद में उनका भी त्याग कर अपनी तपस्या पूर्ण की। चन्द्रचूड़=शिव का नाम, जो उनके चद्रमा को सिर पर धारण करने से पड़ा। वर्जित=निषेध, अस्वीकार। किन्नर-गंधर्वो—(१) देवताओं की एक योनि जिसमे मुख घोड़ जैसा माना जाता है, (२) देवताओ की एक जाति जो गायक होती है। संकल्प=दृढ़ निश्चय। सम्पदा=धन-सम्पत्ति। मृत्युलोक=पृथिवी।

प्रसंग—समस्त वनस्पति पीछे छूट गई है। पाण्डवों ने रथों का त्याग भी कर दिया है, उनके पास कोई भौतिक संपदा भी नही रह गयी है। इसी का वर्णन करते हुए कवि का कथन है—

व्याख्या—जिधर भी दृष्टि डालें उधर ही हिम, केवल हिम ही दृष्टिगत होता है अर्थात् चारों ओर केवल बर्फ ही बर्फ है जो चन्द्रचूड़ शिव की गोदी के सदृश प्रतीत होती है जिसमें पार्वती जी विराजमान है। कहने का अभिप्राय यह है कि इस निर्जन-मौन-विराट् हिम प्रदेश मे अपर्णा पार्वती का ही सात्विक रूप जाग्रत है। इस हिम प्रदेश मे मनुष्य की अवस्थिति किसी प्रकार संभव

नहीं है। कारण यह है कि मानव वहीं जीवनयापन करता है जहाँ विभिन्न प्रकार की वनस्पतियाँ उपलब्ध होती हैं। ऊर्ध्वलोक में तो मानव किन्नर, गंधर्वों, यक्षों एवं देवताओं के माध्यम से होते हुए ही पहुँच सकता है। इसी कारण पाण्डवों ने अपने रथों को मैदानों में ही छोड़ दिया है, उनके मार्ग की निश्चित दिशा भी पीछे वनस्थलियों में रह गयी है और अब पाण्डवों के पास अपने दृढ़ निश्चय के अतिरिक्त मृत्युलोक की कोई भी भौतिक सम्पदा नहीं रह गयी है। मात्र स्वर्ग प्राप्ति की कामना उनका एकमात्र दृढ़ सम्बल है जिसे उपलब्ध करने हेतु वे अपने मार्ग पर अग्रसर हैं।

विशेष—(१) यहाँ हिमालय की कल्पना शिव-पार्वती के निवास-स्थल के रूप में की गयी है।

(२) पाण्डव-दल के एकाकीपन और उनके दृढ़ निश्चय का यहाँ वर्णन हुआ है।

(३) **अलंकार**—काव्यलिंग।

हिम, केवल हिम ········ नासदीय सूक्त-सा। (पृष्ठ ३८-३९)

शब्दार्थ—मृगवर्णाएं=हिरण के रंगवाली। पारदर्शिका=आर-पार दिखने वाली, जिसके आर-पार देखा जा सके। लावण्यमयी=सौंदर्य से युक्त। द्रोणियाँ—पर्वत के मध्य की भूमि। उपत्यका=तलहटी, पर्वत का मार्ग। वशीकरण=वश में करने वाला। चरितार्थ=प्रत्यक्षतः। नक्षत्र-जटित=तारों से जड़ा हुआ।

प्रसंग—पाण्डव-दल के नेता युधिष्ठर हैं। वे महान् हैं। उनके अनुरूप ही प्रकृति का भव्य एवं महान् रूप में वर्णन करते हुए कवि का कथन है—

व्याख्या—जिधर भी दृष्टि डालें उधर ही हिम, केवल हिम ही दृष्टिगत होता है। वहाँ हरिणों के विभिन्न रंगों वाली धूप है, वहाँ देवकन्याओं के समान हिम फिसल रही है। मलमल के समान पारदर्शक चांदनी में पर्वत के मध्य की सुन्दर भूमि सिकुड़ती-सी प्रतीत होती है। पर्वत की एकाकी उपत्यकाओं का निर्मम सूनापन वशीकरण मंत्र के समान जादू करता प्रतीत होता है अर्थात वह अपनी ओर आकर्षित कर रहा है। हे धर्मराज युधिष्ठर, चलो! अभी और आगे बढ़ते चलो। जिस संकल्प की पूर्ति हेतु यात्रा का आयोजन है, वह तो अभी दूर है, तुम्हारा यहाँ पड़ाव डालना अथवा ठहरना उचित नहीं है। यह सामने देखो—दया से पूर्ण देवताओं की आत्मा के समान

लदी हुई हिम की चोटियाँ स्वतः ही देवसभा का दृश्य उपस्थित कर रही हैं और उस कैलाश शिखर पर नक्षत्रों से जटित यह धर्मचक्र जो तपस्वियों वाले गायत्री मन्त्र से पूर्ण मन के रूप में रखा है, नासदीय सूक्त के समान है।

विशेष—(१) यहाँ कवि का सूक्ष्म पर्यवेक्षण दर्शनीय है। चादनी में प्रकाश कम होने से उसका आकार कम-जैसा लगने लगता है।

(२) युधिष्ठिर धर्मनिष्ठ व्यक्ति है। उनके समान ही देवताओं की सभा का वर्णन कर उसके आगे बढ़ने के लिए कहा है।

(३) अलंकार—मानवीकरण और उपमा।

धर्मचक्र यह............इस धर्मचक्र को। (पृष्ठ ३९-४०)

शब्दार्थ—अहोरात्र=रात-दिन। दुर्दम्य=जिसे दबाया न जा सके। तुमुलता=युद्ध का घनघोर कोलाहल। रक्त स्नात=खून से नहाये हुए। उत्थान-पतन=उन्नति और अवनति। लालित्य=मधुर। रौद्रता=भयंकरता। चान्द्रिक=चन्द्रमावाली। अपर=दूसरा। चक्रायित=घूमने वाले। सनातन=नित्य, अनादि। नियन्ता=नियंत्रण करने वाला, संचालन करने वाला। उद्भूत=उत्पन्न। शायी=व्याप्त। प्रणवरूप=परमेश्वर, ओंकार रूप। अवधूत=सन्यासी। बाघाम्बर=बाघ (चीते) की खाल वाला।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण मे कवि युधिष्ठर को हिमालय पर्वत की ऊचाइयो पर पहुँचाकर देव-सभा का वातावरण प्रस्तुत कर रहा है। वहाँ के धर्मचक्र का वर्णन करते हुए वह कहता है—

व्याख्या—यह धर्मचक्र ऐसा है जिससे सदैव रात-दिन, हर पल और घडी, कभी न दबने वाली युद्धों की भयंकरता एवं उसका घनघोर कोलाहल, इतिहास की रक्त-स्नान की हुई कहानियाँ, उन्नति और अवनति का क्रम, विजय की घोषणाओं, पराजय के चीत्कार, तत्सम्बन्धी हर्ष और शोक, ऋतुओं का सौंदर्य और उनकी भयंकरता और चांदनी मे समुद्र की व्याकुलता अर्थात् ज्वार-भाटे की कहानियाँ प्रभावित है। इस कालचक्र मे सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र-लोक और दूसरे ब्रह्माण्ड-लोक निरन्तर चक्र के समान चक्कर काटते रहते है, चक्कर पर चक्कर काटते रहते हैं। इस सब वातावरण और स्थिति को देखकर एक सनातन प्रश्न मन मे उठता है, जैसे यज्ञ की अग्नि से धुआ शाश्वत उठा करता है, कि इन सब कार्यों और उनके कारणो का नियामक कौन है अर्थात् इन सबका नियमन अथवा संचालन करने वाला कौन है? जिससे ये

सभी कार्य होते रहते हैं, जो असंख्य आकाशों तक में परिव्याप्त है। वह काल-पुरुष-परमेश्वर अथवा ओंकार रूप कौन है जो धुएं से युक्त शाश्वत प्रश्नों को अपने में समाए हुए है। इस विश्व का संचालन करने वाला कौन है। नक्षत्रों का वस्त्र पहने हुए सन्यासी के समान शान्त भाव से इस घटना रूपी चीते की त्वचा को धारण करके करोड़ों आकाशीय गंगाओं के आधार पर इस धर्मचक्र को धारण किए हुए कौन है ?

विशेष—(१) यहाँ विश्वनियन्ता के प्रति जिज्ञासा-भावना की अभिव्यक्ति है।

(२) युधिष्ठर के धर्मराज होने की ओर प्रश्न चिह्न है।

(३) **अलंकार**—अनुप्रास और उपमा।

मेष राशि जिसका .... सा नन्दी बनकर। (पृष्ठ ४०-४१)

शब्दार्थ—ललाट=मस्तक, भाग्य। सन्तरित=संचालित। विकराल=भयंकर। धर्मवृषभ=धर्म का प्रतिनिधि बैल। नन्दी=शिव का वाहन।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण से पूर्व कवि धर्मचक्र का परिचय दे रहा था। वह उसे एक पुरुष के रूप में विभिन्न राशि के साथ वर्णित करते हुए लिखता है—

व्याख्या—उस काल-पुरुष का ललाट मेष राशि है, मुख-मण्डल वृष राशि है और कर्म ही हृदय है। उसका वक्षस्थल मिथुन राशि के समान है। उस श्रेष्ठ पुरुष की कमर कन्या राशि के समान एवं उदर सिंह राशि के सदृश है। उसके चरण मीन राशि के समान हैं जो आकाशीय गंगाओं के प्रकाश के दूसरी ओर संचरण करते रहते है। वही ओंकार-पुरुष भयंकर मकर-जंघाओं से दिशा और काल की महा अरणियाँ मथता रहता है जिससे विद्वान-पुरुष जाग्रति पाकर वैश्वानर के समान धर्मचक्र को धारण करता है। वह धर्म का प्रतिनिधि वृषभ के समान नन्दी बनकर धर्मचक्र को धारण करता है।

विशेष—(१) युधिष्ठर धर्मराज है, उन्होंने धर्मचक्र धारण किया था। इन राशियों के चिह्नों के माध्यम से उनके शरीर की पुष्टता एवं सौंदर्य अभिव्यक्त हो जाते है।

(२). **अलंकार**—सांगरूपक।

हिम, केवल हिम ...... घटित हो रही वैश्वानरता। (पृष्ठ ४१-४२)

शब्दार्थ—दनुज=राक्षस। अवतरित हुई=उत्पन्न हुई, उतरी। वासु-

देव=श्रीकृष्ण । धूर्जटी--शिव । अनाश्रयी=आश्रयहीन । चिन्मयता=ज्ञानमयता । आतपवाली=ग्रीष्म अथवा उष्णता से युक्त । कणादता=वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक मुनि का ज्ञान अथवा भाव । वैश्वानरता=अग्नि-सम्बन्धी ।

प्रसंग--कवि धर्म-चक्र के सम्बन्ध मे अपने विचार प्रकट करने के पश्चात् इतिहास सम्बन्धी अपने विचार प्रकट करता है जिसमे मानव परिवर्तित होता रहता है । कवि का कथन है :

व्याख्या--जिधर भी दृष्टि डालें उधर ही हिम, केवल हिम दृष्टिगत होता है । इस रूप मे आकाशों और नक्षत्रों के अक्षांशों और देशान्तरों पर काल रूप पुरुष का इतिहास रूप वस्त्र निर्मित हो रहा है । अर्थात् काल से अप्रभावित रहने वाले पुरुषों का इतिहास लिपिबद्ध होता है । इस इतिहास रूपी वस्त्र को पहनकर देवता और राक्षस तथा मानव की अनेक संस्कृतियाँ इस पृथ्वी पर अब तक अवतरित हो चुकी हैं अर्थात् उससे प्रभावित रही हैं । परन्तु अन्य उपग्रहों की संस्कृतियो के होने या सम्भावना को कोई नही जानता है । जीवन का कृष्ण रूप शिव के कल्याणकारी भाव से स्वयं अजन्मा होकर भी प्रतिक्षण-प्रतिपल इस विश्व में घटित हो रहा है । यह अनाश्रित के ज्ञान का गुणात्मक रूप से विरोधी रूप मे पल-प्रतिपल अभिव्यक्त होता है और छिप जाता है । इस समय भाव-सृष्टि हिम के तापवाली अत्यन्त शीतलता में विद्युत की कणों की ऊर्जा लेकर अग्नि के रूप मे घटित हो रही है अर्थात् यहाँ इतिहास किसी-न-किसी रूप में कार्य करता रहता है, प्रभावित करता रहता है ।

विशेष—(१) यहाँ काल-पुरुष का भव्यरूप मे चित्रण हुआ है ।

(२) पूर्व इतिहास से प्रभावित होने की बात कही गयी है ।

(३) **अलंकार**—रूपक ।

हिम, केवल हिम··· ··· पाण्डव-दल । (पृष्ठ ४२-४३)

शब्दार्थ—मेघो=बादलो । परिणति=परिवर्तन, बदलाव । सार्थ=अर्थ-युक्त, साथियो सहित । पाथरी=पत्थर वाली । ऐकान्तिकता=एकाकीपन, अकेलापन । पिपीलिका=चीटी । नत-सिर=सिर झुकाकर ।

प्रसंग - सूर्यास्त का समय समीप है । पाण्डव-दल हिम के उच्च से उच्च शिखर पर चढ़ता चला जा रहा है । उसी वातावरण का चित्र कवि प्रस्तुत अवतरण में कर रहा है—

व्याख्या—जिधर भी दृष्टि डालें उधर ही हिम, केवल हिम ही दृष्टिगोचर हो रहा था। दिन के चंवर के रूप में सूर्य के प्रकाश से पूर्ण दिन नीले पड़ गए थे। सभी दिशाओं के हाथों में दिन का प्रकाश नीला पड़ गया है अर्थात् सूर्यास्त हो रहा है। चारों ओर छाये हुए बादल ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे मानो वे अपने-अपने पर्वतों के विल रूपी घरों में आ गए हैं। जिस प्रकार उत्सव की समाप्ति के अवसर के समान सूर्य सारे दिन यात्रा करके उसी प्रकार उत्साह-विहीन होकर दिशाओं रूपी कन्धों पर छिप रहा था—अस्त हो रहा था। जो लम्बी भुजाओं की छायाओं के साथ चल रहे थे, न जाने अन्तिम यात्रा के लिए वह किन पर्वत श्रेणियों—शिखरों में—कालपक्षी के समान अंधकार में विलीन हो गया था, शब्दहीन था। उसके अस्त होने में कोई शब्द नहीं था। अब तो चारों ओर केवल हिम ही हिम दृष्टिगत हो रहा था जो निर्जन, उजाड़, भयंकर और पत्थरों के दिल दहलाने वाले अकेलेपन जैसा था, उसी पर चींटियों की पतली रेखा के समान सिर झुकाए हुए बंदियों के समान—अपने किए पर पश्चाताप करते हुए—पाण्डव-दल आगे बढता चला जा रहा था—चला जा रहा था।

विशेष—(१) सूर्यास्त के वर्णन से लगता है कि पाण्डवों के जीवन का भी अन्त हो रहा था।

(२) सूर्य का प्रकाश जैसे नीला पड़ गया है, लगता है उनका राज्य भी समाप्त प्रायः है।

(३) जिस प्रकार बाहर का वातावरण शान्त है उसी प्रकार पाण्डवों का आन्तरिक भाव भी एकदम शांत है।

(४) पाण्डव-दल की पवित्रता यदि हिम से व्यंजित होती है तो उनका अपने किए पर पश्चाताप बंदी-दल के मुंह लटकाए चले जाने से व्यंजित होता है।

(५) उपमा, रूपक और विम्बों के माध्यम से बाह्य वातावरण के वर्णन के साथ-साथ पाण्डवों की मानसिक स्थिति की अभिव्यक्ति की गयी है। यह संश्लिष्ट चित्र श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की 'राम की शक्ति पूजा' की बरबस याद दिला देता है।

सबसे आगे हैं ....का क्या है अर्थ ? (पृष्ठ ४४-४५)

शब्दार्थ—करुणा=दया से युक्त। विवेक=अच्छे-बुरे का निर्णय करने

यात्रा—अन्तिम यात्रा है जिसका निर्वेद-भाव—संसार के परित्याग की भावना हिम के नेत्रों के रूप में उनके विशाल नेत्रों में महामृत्यु की गैरिक वर्ण वाली करुणा वेद और पुराणों में वर्जित नियमों का परित्याग कर—उनके साथ-साथ चल रहा है और साथ ही उनके पीछे-पीछे आगत दिनों के समान ढीली और श्लथ पाण्डवता भी आ रही है। युधिष्ठर के नाम से जाने जाने वाला अब अन्त की ओर जाने के समय का यह धार्मिक सूर्योदय स्वर्गारोहण के पथ पर चला आ रहा है जो अब समाप्त होने को है अर्थात् धार्मिक-ज्ञान अब समाप्त होने वाला है।

विशेष—(१) यहाँ युधिष्ठर के समय का सूर्यास्त और धर्म के सूर्योदय मे विशेष व्यंजना भर दी गयी है।

(२) श्वान धर्म का प्रतीक माना जा सकता है।

(३) युद्ध से खण्डित हृदय मन में उठने वाली स्मृतियों का सुंदर रूप है। 'खिची आ रही श्लथ पाण्डवता' ने पाण्डवों का टूटे मन से उनके पीछे चले जाने का अच्छा चित्रण हुआ है।

(४) प्रस्तुत अवतरण मे स्थान-स्थान पर चाक्षुस-बिम्ब सुन्दर बन पड़े हैं।

(५) अलंकार—उपमा और विरोधाभास।

आहत तन अपमानित·· ········चलता रहता है। (पृ० ४६-४८)

शब्दार्थ—आहत=घायल; चोट खाए हुए। वज्र=कठोर। देह=शरीर। प्रहार=चोट। ललाट=भाग्य; मस्तक। लांछन=दोष; कलंक। गरल=विष। यातना=मानसिक दुःख। छल-बल=धोखेबाजी। गजबल=हाथी की शक्ति। समिधा=यज्ञ में आहुति देने वाली लकड़ियां। अन्तस्तल=हृदय की गहराइयों मे। अशेष=सपूर्ण; जो कभी समाप्त न हो।

प्रसंग—पाण्डव-दल जीवन की अन्तिम यात्रा पर हिमालय पर्वत की चोटी पर ऊंचे और ऊंचे चढ़ते चले जा रहे हैं। उनमें सबसे आगे युधिष्ठर चल रहे है जो पाण्डव-दल का नेतृत्व कर रहे हैं। उनके पीछे भीम चल रहे हैं। प्रस्तुत अवतरण मे कवि भीम का वर्णन करता हुआ कहता है :

व्याख्या—घायल शरीर और अपने मन को अपमानित समझने वाले भीम पाण्डवों के लिए वज्र के समान शक्तिशाली शरीर के रूप में रहे हैं जो अब युधिष्ठर के पीछे-पीछे चले जा रहे हैं। लेकिन युद्ध मे—द्वन्द्व युद्ध मे—दुर्योधन की जांघ पर अवैधानिक रूप से चोट करना बेकार गया और उसके मस्तक

पर घोर अनैतिकता का कलक सदैव के लिए लग गया। क्या दुःशासन के हृदय का खून पीकर मन को शांति मिली ? नही, कदापि नहीं, आज भी गला जहर के समान विदग्ध हो रहा है अर्थात् उसे दुःख हो रहा है। तेरह वर्षों तक वन में निवास एवं तज्जन्य दुःख, अनेक प्रकार के अपमान सहन; दुःख एवं भयंकर यातनाओं को सहना, दुर्योधन और दुःशासन आदि कौरवों के धोखे से परिपूर्ण कार्य और स्वयं भीम की सैकड़ों हाथियों की शक्तिशाली गदा सब कुछ व्यर्थ सिद्ध हुए। ये सारे कार्य दुःख देने वाले स्वप्नों की भांति मिट गए, पीछे रह गए, समाप्त हो गए। लेकिन विरोध एवं विद्वेष की अग्नि बंधु-बांधवों के युद्ध रूपी यज्ञ में समिधा होने पर भी शाँति नही हो पाई। हर पग पर केवल युद्ध-ही-युद्ध था; चारों ओर षड्यन्त्र, द्वन्द्व, युद्ध, वैर की वन की अग्नि के समान शरीर की विभिन्न शिराओं में अभी भी सुलग रहा है। क्या युद्ध इस प्रकार समाप्त हो जाते है ? युद्धस्थल में जब शस्त्र-शास्त्रों की सहायता से युद्धों को समाप्त कर दिया जाता है तब भी उनसे सम्बन्धित कष्टकारक विचारधारा—युद्ध से हुए लाभ और हानि—पर विचार कभी भी समाप्त न होने की स्थिति में चलती रहती है। कहने का अभिप्राय यह है कि शस्त्र के माध्यम से युद्ध को जीत लेने पर भी मन को सच्ची शान्ति प्राप्त नहीं हो पाती, प्रायश्चित और पश्चाताप की भावना आकुल-व्याकुल किए ही रहती है।

विशेष—(१) प्रस्तुत अवतरण में कवि ने भीम की गदा और शक्ति की ओर संकेत किया है।

(२) अनैतिक कार्यों के करने से मन को सच्ची शांति नहीं मिलती—इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य को यहाँ संकेतित किया गया है।

(३) दुर्योधन को मारना और दुःशासन को मारकर द्रौपदी के केशों को रक्त से धोने की घटना महाभारत सम्मत है।

(४) युद्ध की वास्तविकता पर भी प्रकारान्तर से प्रकाश डाला गया है।

(५) अलंकार—उपमा और रूपक।

उस पर राज्य प्राप्ति................पर निर्विकार। (पृ० ४८)

शब्दार्थ—वीर्यहीन=वीरता से विहीन; नपुंसत्व। अपदार्थ=व्यर्थ का तत्व। अन्तर्मन=हृदय। राज्यारोहण=राज्य प्राप्ति। शवसाधना=शवों की साधना। कापालिक=वह व्यक्ति जो मनुष्य की खोपड़ी लिए रहता है और

इसी मे रहता है। उजड़ता—विजन। आमद—खुशी। प्रणम्य—झुककर; नत होकर। केलपत्र—केले के पत्ते। निर्विकार—उल्लासरहित; विकाररहित।

प्रसंग—महाभारत का युद्ध जीतकर भी मन की शांति न मिलने पर पांडव वानप्रस्थीय जीवन व्यतीत करने के लिए निकल पड़े। हिमालय की ऊंचाई पर पाण्डव निरन्तर चलते चले जा रहे है। कवि उनके कार्यों के आधार पर होने वाले पश्चाताप की कल्पना कर उनका प्रभावी रूप मे वर्णन कर रहा है। यहाँ भीम का परिचय देकर उसके मन मे उठने वाले भावों की कल्पना करते हुए कवि लिखता है—

व्याख्या—महाभारत का संसार-प्रसिद्ध युद्ध तो जीत लिया गया लेकिन राज्य की प्राप्ति का अनुभव वैसा ही था जैसे मुट्ठी मे जल को बाँधने का प्रयास होता है। जिससे न तो कोई वीरत्व शेष रहता है और न कोई तत्व ही शेष रह पाता है। भीगे हाथों की प्रतीति के समान ही युद्ध का अनुभव, जिसमे उन्हे कुछ भी प्राप्ति दिखाई नही दे रही थी, उनके अन्तर्मन को अभी भी जला रही थी। वे सोचते है कि वह वास्तव मे कोई विजय थी अथवा कापालिक के समान शवो की साधना थी अर्थात् उस विजय में भी नर-संहार छिपा हुआ था। विजयी वर्ग के शेष लोगो के चेहरों पर, शहरों, नगरों, ऊंचे-ऊंचे महलों और भवनो मे जो उजाड़ता थी, स्पष्ट झलक रही थी। पाण्डवों की उस विजय के प्रति, युद्ध के पश्चात् शेष बचे लोगों के स्वागत में उनके नेत्रों से दु:ख टपक रहा था जैसे वर्षा के समय केले के पत्ते झुक जाते है और उनमे कोई विकार उत्पन्न नहीं होता अर्थात् लोगों के मन में विजय प्राप्ति के फलस्वरूप भी कोई उल्लास का भाव नहीं आया था।

विशेष—(१) युद्ध की समाप्ति के परिणामस्वरूप व्यक्ति की मनोदशा का यहाँ चित्रण हुआ है।

(२) युद्ध की समस्या पर भी ध्यान केन्द्रित किया गया है।

(३) अलंकार—उदाहरण।

जो न युद्ध में……………शेष भाग में। (पृष्ठ ४६)

शब्दार्थ—पराजित=हारा हुआ; विजित। जर्जर=फटे हुए; जीर्ण-क्षीण। चर्मपादुका=चमडे के जूते। विकलागों=किसी अंग-विशेष से हीन; घायल-अगो। बर्बर=असभ्य। पुरुषार्थ=उद्योग; उद्देश्य की प्राप्ति के प्रयास। अर्धदग्ध=आधे जले हुए। आक्रान्त=जिस पर आक्रमण किया गया हो।

आबद्ध=बन्धी हुई; कसी हुई।

प्रसंग—महाभारत के विश्व-प्रसिद्ध युद्ध में पाण्डवों को विजय की प्रप्ति हुई किन्तु इतने पर भी उन्हें सच्ची शांति प्राप्त नही हो सकी। भीम को वह विजय राज्य-प्राप्ति के स्थान पर कापालिक के समान शव-साधना लगी। उन्हें लोगों के स्वागत करने में उनके नेत्रों से दुःख विकीरित होते मिला। जो भीम युद्ध में कभी पराजित नहीं हुए, उनके सम्वन्ध में कवि लिखता है :

व्याख्या—जो भीम युद्ध में कभी पराजित नहीं हुए थे वे जीर्ण-शीर्ण वस्त्र पहने और चमड़े की फटी हुई जूतियाँ पहने हुए घायल अगों को घिसटते हुए उसी प्रकार चले आ रहे थे जैसे कोई असभ्य आदिम जाति का मानव हो। उनकी गदा बार-बार कच्ची वर्फ में धँसती जा रही थी, उसके माध्यम से ऐसा लगता था जैसे वह मनोवांछित फल की प्राप्ति का उद्योग कर रहे हों। उनके हाथों मे अस्त्र था किन्तु वह वधिर विवशता का अनुभव कर रहे थे। उनका आधा मन विदग्ध था; लगता था जैसे उन पर वाहर से किसी ने आक्रमण कर दिया हो; भीम लम्वी निःश्वास की भांति लग रहे थे, उनके आगे-आगे धर्मराज युधिष्ठर थे और उनके पीछे वलि-पशु के समान पीछे घिसटती हुई, वन्धी हुई-सी द्रौपदी चली आ रही थी।

विशेष—(१) भीम की वाह्य वेशभूषा का वर्णन मन की आन्तरिक स्थिति के समान किया गया है।

(२) मन की वास्तविक घुटन का सुन्दर चित्रण हुआ है।

(३) द्रौपदी को वलि-पशु कहकर उसकी विवशता और पाण्डवों के साथ उसे मिले कष्टो की ओर इगित किया गया है।

(४) वधिर विवशता मे विशेषण विपर्यय अलंकार है; अन्तिम पंक्ति में उदाहरण अलंकार है।

देवदारु की देहयष्टि...... ...कुछ कुटिलपूर्ण था। (पृष्ठ ४६-५०)

शब्दार्थ देह-यष्टि=शारीरिक गठन। स्कन्ध=कन्धे। प्रत्यंचा=धनुष की डोर। विंध्य=विन्ध्याचल। प्रपात=निर्झर। दिव्यास्त्र=दिव्य-अस्त्र, अस्त्र जो ऋषियों के मंत्रो से पवित्र करके मारक वनाए जाते हैं। अनुत्सवी= विना उत्सव वाली। कुटिल=कठोर। परिताप=अत्यधिक कष्ट। काषाय= गेरुए रंग का वस्त्र।

प्रसंग--पाण्डवों को महाभारत युद्ध के पश्चात् भी शांति नही मिली। वे

हिमालय पर शांति की खोज या अन्तिम यात्रा पर निकल पड़े। सभी पाण्डवों के मन मे उठे विभिन्न प्रकार के भाव उनके मन को अशांत बनाते है। प्रस्तुत अवतरण मे कवि अर्जुन के विषय मे लिखता है :

व्याख्या—देवदार वृक्ष के समान देह अथवा शरीर वाले अर्जुन के थके हुए कन्धो पर ढीली प्रत्यंचा वाला गाण्डीव धनुष ऐसा लग रहा था जैसे विन्ध्याचल पर्वत की पत्थर की शिलाओ पर ग्रीष्म की तपती धूप मे सूखे हुए झरनों का चित्र निर्मित हो गया हो। उनके ऋषियो के मन्त्रों से पूत अस्त्र-शस्त्र और अभय के वरदान न जाने कहां चले गए जिनके कारण मस्तक पर राज्य का गर्व छाया रहता था। वह विजय जिसका कोई उत्सव नही था, और वह विजय भी सर्वनाश के पराजय के समान थी अर्थात् उस विजय मे सर्वनाश ही तो निहित था।

उनके मन मे धृतराष्ट्र के विषय मे विचार उठता है कि वे दूर बैठे हुए सर्वनाश की दुःखपूर्ण कहानी को सुनते रहे किंतु युद्ध-विराम करा देने की ओर उनका ध्यान किंचित् भी नही गया। कहने का अभिप्राय यह है कि यदि धृतराष्ट्र चाहते तो युद्ध समाप्त करवा सकते थे। वे आखो से अन्धे नही थे अपितु वह अंधापन उनकी आत्मा का था जिस पर राज-वैभव की प्राप्ति का पर्दा पड़ा हुआ था, वे तो सामूहिक अंधेपन के प्रतीक थे अर्थात् कौरवों का सारा पक्ष ही इस प्रकार से अन्धा हो गया था जो वास्तविकता को नही पहचान पा रहा था। तभी तो राज्यलक्ष्मी गांधारी ने भी कृत्रिम अन्धेपन को स्वीकार किया था। धृतराष्ट्र अन्धे थे और राजा के लिए आवश्यक कठोरता भी उनमे थी, तभी तो उनके मन की शत्रुता, प्रेम, षड्यन्त्र, क्षमा और अत्यधिक दु:ख या फिर सन्यास स्वीकार करने मे सब कुछ कुटिलता से परिपूर्ण था।

विशेष—(१) अर्जुन के माध्यम से धृतराष्ट्र के कार्यो पर विचार कर लिया गया है। युद्ध के लिए वे भी दोषी थे, अन्यथा वे राष्ट्राध्यक्ष होने पर उसे रुकवा सकते थे।

(२) गांधारी ने कृत्रिम अन्धापन स्वीकार कर लिया था।

(३) आरम्भिक पंक्तियों मे चाक्षुस-बिम्ब द्वारा अर्जुन का चित्रण किया गया है।

किन्तु युधिष्ठिर तो थे ·· ····· तब क्या करता। (पृष्ठ ५१-५२)

शब्दार्थ—प्रज्ञाचक्षु=ज्ञान की आखें। कर्म-पंगु=कर्म न करने की

क्षमता। निस्पृह=इच्छारहित; जिसे किसी से लगाव न हो। दुर्निवार=जिसे सहन न किया जा सके। प्रतिकार=विरोध करना। शीलवान=अच्छे चरित्र वाला। कोप=क्रोध। तेजस=तेजस्वी। भ्रष्ट=गिरा हुआ। परित्यक्त=त्यागा हुआ। पंक्ति-बहिष्कृत=जाति से निकाला हुआ। धनंजय=अर्जुन का एक नाम।

प्रसंग—अर्जुन महाभारत के युद्ध को रोकने के सम्बन्ध में विचार करते है। पहले वे सोचते हैं कि धृतराष्ट्र महाभारत के इस भीषण युद्ध को रोक सकते थे लेकिन स्वयं वह एक शासक के समान कुटिल और कठोर थे; परिणामतः युद्ध को रोकना उनके लिए कठिन था। यहाँ वह अन्य लोगों के विषय में सोचते है। कवि कल्पना करता है—अर्जुन सोचते हैं—

व्याख्या—यदि धृतराष्ट्र के सभी कार्य कुटिलतापूर्ण थे तो कम से कम युधिष्ठर तो ज्ञान-चक्षुओं के आधार पर विनाश को रोक सकते थे अर्थात् युधिष्ठर जैसे ज्ञानवान् पुरुष के रहते हुए भी घोर विनाश हुआ।

लेकिन वे अपने मन के विकल्प के आधार पर कर्म करने में पंगु ही बने रहे।

लेकिन वहाँ विदुर जैसे नीतिवान और धार्मिक व्यक्ति भी तो थे जो सत्य पर अडिग रहते थे, उन्हें किसी से कुछ लेना-देना नही था, वे तटस्थ-भाव के व्यक्ति थे; फिर भी न जाने वे क्यों चुप रहे। उन्होंने युद्ध को रोकने का किंचित प्रयास भी तो नहीं किया? जब पाण्डवों पर बार-बार अन्याय होते रहे, अन्याय रूपी ज्वर का वार—असहनीय वार—उन पर किया जाता था तो भी विदुर ने उनका विरोध क्यों नही किया, उन्होंने कौरवों को पाण्डवों के प्रति करने वाले अन्यायों से क्यों नहीं रोका।

लेकिन कोई भी राज्याध्यक्ष अच्छे चरित्र वाले—सज्जन—लोगों की भाषा को नहीं समझा करता, वह किसी दूसरे भले व्यक्ति की बात को नहीं माना करता। भीष्म पितामह जैसे व्यक्ति, द्रोणाचार्य और कृपाचार्य जैसे आचार्यों ने भी असत्य के पथ पर चलने वाले कौरव-पक्ष के लोगों का साथ दिया।

अर्जुन! राज्य के क्रोध के समान ही राज्य की कृपा भी बड़े से बड़े तेजस्वियों को भी आरम्भ मे बिगाडकर अन्त में उसे नष्ट कर देती है।

दुर्योधन तो आरम्भ से ही कुटिल था—पथभ्रष्ट था; किंतु वह कर्ण तो ऐसा नही था।

वह कर्ण रथ-चालक के पुत्र के रूप में जाना जाता था। उसे कुन्ती ने जन्म के समय से ही त्याग दिया था। स्वयंवर में द्रौपदी ने उसको अपमानित किया था और सभी ने उसे जाति से बहिष्कृत कर दिया था, जाति की पंक्ति से निकाल दिया था। इस तथ्य पर अर्जुन विचार कर कहते है कि यदि कर्ण इस प्रकार हम मे विरोध न कर कौरव पक्ष का साथ न देता तो फिर क्या करता ? इसके अतिरिक्त उसके पास और कोई उपाय अथवा साधन भी तो नही था जिसके द्वारा वह अपने शौर्य और पराक्रम को प्रदर्शित करता।

विशेष—(१) अर्जुन के माध्यम से कौरव-पक्ष के सभी उच्चवर्गीय व्यक्तियो के चरित्रो और कार्यों पर सांकेतिक रूप मे विचार कर लिया गया है।

(२) युद्ध के समाप्त होने पर अर्जुन के मन मे भी घोर विनाश को देख-कर यह विचार उत्पन्न होता है कि इस युद्ध को रोका क्यों नही गया ?

(३) राज्य अपने क्रोध एवं कृपा दोनो से श्रेष्ठ और शीलवान् व्यक्तियो को भी पथ-भ्रष्ट और अन्त मे विनष्ट कर देता है—इस तथ्य की ओर संकेत किया गया है।

पर कृष्ण ! उस पूर्ण पुरुष······करपात्री भिक्षुक से ! (पृ०५२-५३)

शब्दार्थ—पुलिनो=किनारे। नर्तन=नृत्य, नाच, रासलीला। व्याध-वाण=बहेलिये के वाण से। पार्थसारथी=अर्जुन के रथ चालक श्रीकृष्ण। हित=के लिए। दिगदिगन्त=सभी दिशाओ मे। मर्दित=कुचला हुआ। त्रैलोक्य=तीनों लोक। अप्रमेय=जिसकी कोई सीमा न हो। नतशिर=झुके सिर। करपात्री=कर में पात्र लिए।

प्रसंग—अर्जुन महाभारत के भीषण युद्ध के सभी बड़े आचार्यो और राज्याध्यक्षों के विषय मे सोचते है कि उन्होंने युद्ध को रोकने का प्रयास क्यो नही किया। अन्त मे वह श्रीकृष्ण और अपने विषय मे सोचते है—प्रस्तुत अवतरण में कवि ने इसी विषय पर प्रकाश डाला है। अर्जुन सोचते है—

व्याख्या—लेकिन श्रीकृष्ण ने युद्ध को क्यो नही रोका ?

श्रीकृष्ण तो पूर्ण पुरुष थे, उनके लिए तो यह सब कुछ एक लीला मात्र था। दुर्योधन की सभा म सन्धि के लिए जाना और न मानने पर अपना विराट् रूप दिखलाना, युद्ध से पूर्व की सध्या को मुझे गीता का उपदेश देना, यमुना के किनारे सदैव आनन्दपूर्ण क्रीड़ाए करना, नन्द बाबा, माता यशोदा, ग्वाल-

बाल, गोपिकाएं और राधा के साथ रहकर विविध प्रकार के कार्यों द्वारा उनका मनोरंजन करना अथवा फिर बहेलिए के बाण से बिना किसी उत्सव आदि के आत्मा का परित्याग कर देना—क्या यह सब कुछ लीला मात्र नहीं था ! जो श्रीकृष्ण अर्जुन के रथ को हांक रहे थे उनके लिए तो यह सब माया का रूप था, एक कौतुक मात्र था ।

और अर्जुन ! स्वयं ने उस महाभारत के भयंकर युद्ध को रोकने का प्रयास क्यों नहीं किया ?

उन्होंने—अर्जुन ने—तो विजय की प्राप्ति के लिए समस्त उद्योग किया—नीति के नियमों एवं छल और बल से विजय प्राप्त करने के लिए ही तो कार्य किया था—सारा प्रयोग मात्र विजय प्राप्ति के लिए ही तो था ! सम्पूर्ण दिशाओं—चारों ओर जिसके बाणों का बोलवाला था—सभी दिशाए दुःखी और मर्दित थी । उसके—अर्जुन के—पराक्रमी चरणों पर तीनों लोक समर्पित थे । वह कृष्ण के परम मित्र थे जो शक्ति में दूसरे ही कर्ण थे—जिनकी शक्ति की कोई सीमा नही थी । अब वे अर्जुन धनुष के समान झुक गए थे, उनके पैर घुटनों तक बर्फ मे धंसते जा रहे थे, वह सिर झुकाए हाथ में पात्र लेकर भिखारी के समान चले जा रहे थे ।

विशेष—(१) प्रस्तुत अवतरण में कवि ने आहत मन वाले अर्जुन का सुन्दर चित्रण किया है ।

(२) कृष्ण के द्वारा किए गए सभी कार्यों को लीला रूप कहकर उनके अवतारी रूप को चित्रित किया गया है ।

(३) अर्जुन की अपरिमित शक्ति की ओर संकेत किया गया है ।

(४) प्रस्तुत अवतरण मे वर्णित सभी घटनाएं महाभारत द्वारा सम्मत हैं ।

हिमता ऊर्ध्वमुखी हो·········की यात्राओं-सी । (पृष्ठ ५३-५५)

शब्दार्थ—हिमता=बर्फीलापन । ऊर्ध्वमुखी=ऊपर की ओर चढ़ते हुए । आसन्न=मृत्यु के समीप । विक्षुब्ध=अशांत-मन । क्षत-विक्षत=घायल । पाँचजन्य=शंख । पणवानक=नगाड़ा । सव्यसाचि=अर्जुन । दारुणी=कष्ट देने वाली । अहोरात्र=रात-दिन ।

प्रसंग—पाण्डव-दल यात्रा हेतु निकल पड़ा है । उनके मन में महाभारत—विगत जीवन—को लेकर अनेक स्मृतियां जाग्रत हो रही है । अर्जुन के मन में उठने वाले विचार के विषय में कवि अनेक कल्पनाएं करता है । कवि

का वर्णन है—

व्याख्या—बर्फीली उन्नता ऊपर की ओर होकर, प्रत्येक नस मे होकर चेतना के उच्चस्तर पर बढ रही है। अर्थात् पाण्डवों के विचार इन दिनो मे चेतना मे इसी प्रकार शांति के साथ बढते जा रहे है जैसे कि हिम की शीतलता उनकी नसो मे समाती जा रही हो। उनके अंग-प्रत्यग गले जा रहे है और उनका शरीर मृत्यु के निकट पहुँचा जा रहा है। अशान्त मन के कारण चेतना घायल पर्दे के समान हो रही है अर्थात् मन की अशाति बढकर चेतना को घायल पर्दे से ढँक रही है। अर्जुन की चेतना अपनी ही वाणी नही सुन पा रही थी; क्योंकि विचारो के कारण उसकी अपनी ही चेतना घायल हो रही थी तो फिर युद्ध मे बजने वाला श्रीकृष्ण का पाञ्चजन्य नामक शंख, गोमुख वाला नगाडा अब कहाँ सुनाई देते थे अर्थात् उन सबको सुनकर उसका मन युद्ध से विरत हो गया था, शंख और नगाड़े का वह स्वर अब अर्जुन को प्रसन्न नही कर पाता था। युद्ध की स्मृतियाँ तक उन्हे उत्तेजित अथवा जागृत नही करती; अब तो इन सबके स्थान पर केवल बर्फ की आँधियाँ ही सुन पाते है जो कापालिक (श्मशान में शव-साधना करने वाला प्राणी) की रौद्रता के समान प्रलय करने वाली है। बढे चलो—निरन्तर आगे बढे चलो—हे अर्जुन! आत्मदाह करके शाति प्राप्त करने के लिए कहाँ तक बढते जाना है। कापते हुए हाथो मे टेक (सहारे) के लिए लिए गए दण्डे भी स्वयं अब बोझ जान पड़ते थे। इसी प्रकार से मन की शांति का शोध करने के लिए चलते-चलते कितने दिन व्यतीत हो गए। कोई किसी से बात भी नही कर पा रहा है। बाहर हिम की शीतलता से अधरो पर पपडी जम गई है तो मन से अनबोली भाषा आभासित हो रही है। हिम से टकराकर वापिस होने वाली दर्पण के समान चकाचौंध करने वाली परावर्तित प्रकाश की किरणें आंखो को चौंधिया रही है अर्थात् किसी की दृष्टि भी अब ठीक कार्य नही कर पा रही है। भालो की लक-लक करती नोक के समान ये स्मृतियाँ मन को साल जाती है अथवा मन को पीडा पहुँचा रही हैं। महाभारत के महायुद्ध के काल की स्मृतियाँ वस्त्र या हाथ के समान भौतिक वस्तुए नही है। ये तो दिन-रात केवल मन मे उठ रही है तथा ये स्मृतियाँ मन को उसी प्रकार आच्छादित कर लेती है जैसे कि बिना पैरो के होते हुए भी मेघ सम्पूर्ण आकाश को आच्छादित कर लेते है।

विशेष—(१) संश्लिष्ट चित्रण के माध्यम से मानसिक स्थिति को स्पष्ट

किया गया है। जैसा कार्यव्यापार बाहर हो रहा है वैसी ही प्रक्रिया मन के भीतर भी चल रही है।

(२) स्मृतियों की व्यापकता और कार्य को आकाश में छाने वाले मेघों के माध्यम से स्पष्ट किया गया है।

(३) **अलंकार**—अनुप्रास एवं पुनरुक्ति।

हम तो वह सारा··· ··········इस अन्तर में। (पृष्ठ ५५-५६)

शब्दार्थ—सम्पदा=सम्पत्ति। जयाजय=जय और पराजय। परिजन=सगे-सम्बन्धी। परिव्राजक=सन्यासी। प्रतिशोध=बदला। दारुण क्रंदन=भयानक विलाप। अन्तर=हृदय।

प्रसंग—पाण्डव हिमालय पर अन्तिम यात्रा के लिए पहुँच जाते है। सभी के मन में अशांति की बातें उठती रहती हैं' प्रस्तुत अवतरण में कवि ने अर्जुन के अन्तर मे उठने वाली विचारधारा को अभिव्यक्ति प्रदान की है। अर्जुन का कथन है—

व्याख्या—हम सब अपना सम्पूर्ण साम्राज्य, सम्पत्ति, जय और पराजय, प्रिय जनों, सगे-सम्बन्धियों और प्रजाओं एवं उनके प्रति अनुराग और विद्वेप की सभी भावनाओं को–सब कुछ को छोड़कर, घर-बार का परित्याग करके चतुर्थ आश्रम में प्रविष्ट हो रहे है—सन्यासी बन गए है और मानसिक शांति की प्राप्ति के लिए स्वर्गारोहणार्थ हिमालय के उच्चशिखर पर आ पहुँचे है। कालरूप महा-ब्राह्मण को संकल्प रूप जल दान में दे दिया है। अब जीवन मे कुछ भी करने का सकल्प हमारे पास शेप नहीं है किंतु हमारे इस अवचेतन मे सबका सब ज्यों का त्यों विद्यमान है। कहने का अभिप्राय यह है कि हम महाभारत-कालीन स्मृतियो को भुला पाने में पूर्णतः असमर्थ रहे है। हमारे जीवन को समाप्त करने के लिए अनेक षड्यन्त्र किए गए, हमारा अपमान किया गया जिसका प्रति-शोध लेने के लिए हमे तत्पर होना पड़ा। निरन्तर युद्ध करना पड़ा जिसके कारण हत्याएं हुईं, दुःखी प्राणियों ने चीत्कार किए, चक्रव्यूह में फंसे हुए अभिमन्यु का वध किया गया, अश्वत्थामा के द्वारा वंश का नाश किया गया, उत्तरा विधवा हो गयी, उसका दारुण क्रंदन हृदय को वेधने वाला था–यही सब कुछ तो हमारे अन्तर आज भी सुलग-सुलग रहा है, धू-धू करता हुआ सारा जीवन सुलग रहा है। कहने का अभिप्राय यह है कि जब हमे यह सब कुछ स्मरण हो आता है तो हमारा हृदय आकुल-व्याकुल हो उठता है और यह क्रम हमारे अन्तर में अन-वरत रूप से चल रहा है।

विशेष—(१) महाभारत की प्रमुख घटनाओं की ओर कवि ने संकेत किया है।

(२) मनोवैज्ञानिक संस्पर्श से अवतरण को प्रभावशाली बना दिया गया है।

(३) अलकार—अनुप्रास और वीप्सा।

जैसे कोई दर्पण ....का आलिगन कर। (पृष्ठ ५६-५८)

शब्दार्थ— दर्पण=प्रतिबिम्बित करने वाली सतह। माणिक्य=लाल रग का नग। दीपित=चमकती थी, आलोकित होती थी। कूटनीतियाँ=छल-कपट की नीति, चालबाजियां। सरीखी=समान। रजस्वला=वह स्त्री जिसका रज प्रवाहित हो रहा हो। आर्त्तनाद=दुखित स्वर। आयुध=युद्ध के अस्त्र-शस्त्र। ध्वस्त=नष्ट कर दिया। मायावी=छली; भ्रमपूर्ण। विकलांग=अंग-भग व्यक्ति। धरा=पृथ्वी। जयी=विजयी। अकिंचन=दरिद्र, सभी वस्तुओ अथवा सम्बन्धियो से हीन। स्वाहा=आहुति दी जाना; समाप्त हो जाना। उदर=पेट। अघोरी=वह व्यक्ति जो विष्ठा अथवा मलमूत्र खाता है, घृणित। विषाद=दु:ख, निराशा।

प्रसग—हिमालय पर्वत की बर्फ की ऊंचाईयों पर पांण्डवों के साथ अर्जुन चले जा रहे है। यहा कवि ने उनके मन मे उठने वाले विचारो की कल्पना की है। अर्जुन को सबसे पहले अपने पुत्र अभिमन्यु एव पुत्रवधू उत्तरा की स्मृति आती है। तदनन्तर राज भवन एव महाभारत मे धाराशायी होने वाले दोनो पक्षो के योद्धाओ और जीवितो के विलाप और विषाद का करुण-क्रन्दन का स्मरण। इन्ही सबका स्मरण करते हुए अर्जुन विचारते है—

व्याख्या—वह राजभवन मायावी दर्पण के समान था जिसमे राजाओ, सेनापतियो और सुन्दरियो की लाल और नीली छायाएं बिम्बित हो रही थी, बिम्बित ही नही प्रतिबिम्बित हो रही थी, पुन:-पुन. प्रतिबिम्बित हो रही थी, आलोकित-प्रकाशित हो रही थी। वह राजभवन, जो माणिक्य और नीलम के सुन्दर जवाहरातों से प्रत्येक समय दमकता था, चमकता था और सुशोभित बना रहता था—सब धोखा मात्र था, जो अब मिट गया है, समाप्त हो गया है। ये सब माया के कारण थे, दर्पण के प्रतिबिम्ब के समान तभी तक सुख देने वाले थे जब तक कि उसके सम्मुख वस्तु रखी रहती है। उनके रग-बिरंगे अनेक प्रकार के कोलाहल के मध्य अनेक सेवको से घिरे हुए दुर्योधन, दु:शासन और शकुनि की धोखे वाली चालें अविरत रूप से चलती रही। ये चाले इसी

प्रकार चलती थी जैसे सर्प धीरे-धीरे रेंगा करता है, उसका ज्ञान किसी को नही हुआ करता और वह समय आने पर डस जाया करता है उसी प्रकार इनकी कूटनीति धीरे-धीरे कारगर सिद्ध होती थी।

इसके पश्चात् उन्हें द्रौपदी की उस स्थिति की याद आती है जिसमे वे दुर्योधन की सभा में एक वस्त्र धारण करके, रजस्वला होते हुए भी अपमानित की गई। उसका आर्त्तक्रन्दन बार-बार सभा में अनुगूजता रहा किंतु उस आर्त्तक्रन्दन को सुनने वाला वहाँ कौन था? कोई भी तो नहीं था। उसके आर्त्त-क्रन्दन की गूंज आज भी उनके कानों को जला रही है। उन्हें यह विचार परेशानी में डाल रहा है कि अवला के सम्मान की रक्षा भी न हो सकी। उस दिन धृतराष्ट्र राजा ही नही थे वरन् वह सम्पूर्ण राज्य ही बन गए थे अर्थात् सारे कानून उन्होंने अपने हाथ मे ले लिए थे और कोई भी उस अवला की रक्षा के लिये आगे नही आया था।

अर्जुन को आज भी शकुनि द्वारा युधिष्ठर के साथ जुआ खेलने की बात याद आती है। जुए में फेंके गये पासों की आवाज आज भी उन्हें ज्यों की त्यों याद है। लोग कहते है कि यह सब व्यतीत हो चुका है लेकिन वास्तविकता यह है कि अभी तक कुछ भी बीता नही है, मन मे सब कुछ ज्यों का त्यों याद आ रहा है।

अठारह दिन तक लड़े जाने वाले महाभारत के युद्ध की बाते याद आती है। अठारह दिन तक सहस्रों, असंख्य योद्धाओं ने शस्त्र और अस्त्रों की ज्वाला से वह राजभवन नष्ट कर दिये, जो अब भी माया के समान दृष्टिगत होते है। राजभवन नीलम आदि हीरे और जवाहरातों से सुसज्जित थे अथवा जो लोग बहुमूल्य वस्त्र धारण करते थे, वे सब शव बनकर रह गए; उनका कोई अस्तित्व ही नही रहा और अब तो ऐसा लगता है जैसे उन सबका हमने अपने ही हाथो से क्रिया-कर्म किया था अथवा हमने अपने आपको ही इस युद्ध के साथ समाप्त कर दिया था। चारो ओर श्मशान ही श्मशान दिखाई देता था। सभी अनाथ हो गए थे, कोई भी उनकी रक्षा करने वाला नही था; सभी के अग क्षत-विक्षत हो गये थे और वे घायल अगों को अपने में संजोए थे। महाभारत के उस भीषण युद्ध मे अनेक वश इस भूमि से सदा-सदा के लिए समाप्त हो गए थे। चाहे कोई विजयी हुआ था अथवा कोई पराजित हुआ था—सभी अकिंचन—सभी वस्तुओ एवं सगे-सम्बन्धियों से विहीन हो गए थे। उस युद्ध को क्या कहा

जाए जिसमें भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, दुर्योधन, दुःशासन, कर्ण, जयद्रथ, धृष्टद्युम्न, अभिमन्यु, घटोत्कच जैसे ज्ञानी, बलवान और धैर्यवान् पुरुष सदा-सदा के लिए बलिदान हो गए, समाप्त हो गए, स्वाह हो गए। वे सब युद्ध के पेट की ज्वाला में भस्म हो गए। महाभारत के युद्ध की समाप्ति और उन सबकी आहुति के बाद अघोरी की पैशाचिकता जागी, विधवाओं का करुण-क्रन्दन और हाहाकार जागा, जीवित प्राणियों के दुःख की आवृतियां हुई—उनके मुखमण्डल पर निराशा और उदासी छायी हुई थी; किंतु इतने पर भी धृतराष्ट्र—जो शासक थे—अन्धे ही बने रहे। वह अन्धे तो थे ही और इस विश्व के—वहां के निवासियों के क्रन्दन, चीत्कार, दुःख आदि से बेखबर रहकर अन्धे ही बने रहे। वे तो भीम से बदला लेना चाहते थे अतः भीम के स्थान पर वह भीम की लौह-मूर्त्ति का आलिंगन करते रहे।

विशेष—(१) विगत जीवन की स्मृतियां किस प्रकार एक व्यक्ति को विह्वल बना देती है इसका चित्रण प्रस्तुत अवतरण मे हुआ है। वर्णन मे लेखक ने मनोवैज्ञानिकता का आश्रय लिया है।

(२) अलंकार—उपमा, उदाहरण और दृष्टान्त।

(३) अवतरण मे वर्णित घटनाएं महाभारत सम्मत है, आहत होने वाले प्राणियो की नामावली भी इतिहास-सम्मत है। किंतु लेखक ने युद्ध की भयंकरता एवं युद्ध समाप्ति के बाद के परिणाम का जो यथार्थ चित्रण किया है वह भूतकालीन होने के साथ-साथ आधुनिक भी है। युद्ध की विभीषिका भविष्य के लिए भी यथावत् बनी रहेगी। युद्धोपरान्त मनोवांच्छित फल प्राप्त होने पर भी मन को सच्ची शांति नही मिलती, फिर युद्ध की व्यर्थता स्वतः सिद्ध है। प्रकारान्तर से, युद्ध न करने की व्यंजना भी यहां हो गई है। इसी रूप मे वर्णन की सार्थकता है।

और एक दिन ....किसी वृक्ष को। (पृष्ठ ५८-५६)

शब्दार्थ—सायास=प्रयास सहित; जान-बूझकर। पटल=वस्त्र; कपडा। दुर्दान्त=भयानक। गिद्ध-ग्रास=गिद्ध पक्षी के भोजन के टुकडो के समान। कोपदृष्टि=क्रोधपूर्ण दृष्टि। भस्मसात=जलने से; नष्ट होने से।

प्रसंग—अर्जुन युद्ध के पश्चात की स्थिति पर यहां विचार कर रहे हैं। कौरवों के समाप्त हो जाने पर गाधारी ने अपने नेत्रों से पट्टी हटाई जो उसने अपने पति के अन्धे होने पर स्वयं ही बाध ली थी। उसी ओर संकेत करते हुए

कवि ने लिखा है—

व्याख्या—जब युद्ध समाप्त हो गया तो एक दिन युद्ध-क्षेत्र में राज्यलक्ष्मी समझी जाने वाली कौरवों की माता गांधारी ने अनेक वर्षो के पश्चात् (विवाहोपरान्त) अपने अन्धेपन से, कृत्रिम रूप से अन्धे बने रहने की प्रक्रिया से अपने नेत्रों से पट्टी हटाई; उसकी दृष्टि अत्यन्त भयभीत करने वाली, अग्नि के समान भस्म करने की क्षमता वाली और शस्त्र के समान तेज धार वाली थी। उसकी दृष्टि का ऐसा होना स्वाभाविक भी था। कारण, वह एक माँ थी और वह अपने सौ पुत्रों के अग-भंग होने के बाद, हताहत होने पर, उनके शवों का अवलोकन कर रही थी जो अब जहाँ-तहाँ गिद्दों के ग्रास के रूप में फैले थे अर्थात् उनका अन्तिम दाहसंस्कार करने वाला भी कोई शेप नही बचा था। और श्रीकृष्ण धन्यवाद के पात्र है जिन्होंने एक बार फिर युधिष्ठर को गांधारी के कोप मे भस्म होते-होते बचाया। कारण, उस समय गांधारी का ममत्व और मातृत्व चरम मीमा पर था और वह अपने तेज से धर्मराज युधिष्ठर को शाप दे सकती थी किंतु कृष्ण ने मध्यस्थता करके युधिष्ठर को बचाया। और यह कृष्ण की अद्वितीय कृपा थी कि जो गांधारी भस्म करने वाली थी वही अंगुलियो के स्पर्श से युधिष्ठर के शरीर में प्रवेश कर गई। उस समय उन्हें उसी प्रकार शान्ति प्राप्त हुई, उनका जीवन सुगंधमय बन गया जिस प्रकार किसी वृक्ष को चंदन की गंध प्राप्त हो जाती है।

विशेष—(१) यहाँ कवि ने श्रीकृष्ण की पाण्डवों पर कृपा की ओर संकेत किया है।

(२) भाषा भावानुसारिणी है।

(३) **अलंकार**—दृष्टान्त।

स्मृतियाँ फिर प्रतिक्षण............पाण्डवता की। (पृष्ठ ५९-६०)

शब्दार्थ—प्रतिक्षण=प्रत्येक क्षण। आवृतियाँ=दोहराया जाना। उत्कीर्णित=खुदा हुआ; अंकित। निगूढ=अत्यन्त गहरी। तापसता=तपस्वीपन। हेमकुण्ड=यज्ञ का कुण्ड। विनत=विनम्र भाव से; झुके हुए।

प्रसंग—कवि अन्तिम यात्रा पर निकले पाण्डवों के मन में उठने वाले विचारो की कल्पना कर रहा है। प्रस्तुत अवतरण मे वह उनके मन में बार-बार उठने वाले विचारों के सम्बन्ध में कहता है :

व्याख्या—अर्जुन सोच-विचार करते है कि प्रत्येक वस्तु की मात्र स्मृति

ही आती है और प्रत्येक समय वे स्मृतियाँ आवृत्त की जाती है, दोहराई और तिहराई जाती है। उस समय ऐसा लगता है कि अभी तक कुछ बीता ही नही है, वह सब अब भी चल रहा है। व्यक्ति के मन में सब कुछ ज्यों का त्यो बना रहता है। उसके मन पर जो कुछ भी एक बार अंकित हो जाता है, एक बार जो कुछ उत्कीर्ण हो जाता है, जो कुछ विषाद की रेखाए बन गयी होती हैं वे पुनः इतनी सरलता से समाप्त नही हो जाती, फिर भले ही कितनी करुणा, दया और क्षमा के ज्वार क्यों न आएं। मन की उनित गहराईयों और अवचेतन मे जो बातें एक बार अंकित हो गई होती है उनसे किसी भी प्रकार मुक्ति नहीं मिल पाती है, वह तो सदैव कण्टकार ही बनी रहती है।

हे युधिष्ठर! तुम कहीं तक और किसी भी ऊंचाई तक बढ़ते चले जाओ—तुम्हारी देह तो हिम की तापनता में चलती चली जा रही है अर्थात् शरीर और उसकी इन्द्रियां तो अविरत रूप से शीतल हो जाती रही है, शिथिल होती जा रही है किंतु मन यज्ञ-कुण्ड मे प्रज्ज्वलित अग्नि के समान जला जा रहा है।

उन युधिष्ठर के पीछे आदर्श अनुज के समान नकुल और सहदेव विनम्र भाव से सिर झुकाए चले जा रहे है। वे दोनो—नकुल और सहदेव—इस समय उदासीन है। उन्हें दुःख-सुख से कोई लेना-देना नहीं है। वे इस समय ऐसे लग रहे हैं जैसे कि वह पाण्डवों की शान्त रहने वाली मिथुन राशियां हों अर्थात् वे एक-दूसरे के पूरक हो।

विशेष—(१) प्रारम्भिक पक्तियाँ एकदम मनोवैज्ञानिक है। मानव-मन में स्मृतियाँ वार-वार आया करती है। जो बातें मन में एक साथ गहरे बैठ जाती है वे जल्दी से जल्दी निकल नहीं पाती है।

(२) अलंकार—रूपक, उत्प्रेक्षा, उपमा।

पर सबके पीछे ······ यम-सा छाया अन्धकार। (पृ० ·०-६१)

शब्दार्थ—भार्या=पत्नी। द्रुपद सुता=राजा द्रुपद की कन्या। एक-निष्ठ=एक ही व्यक्ति मे चित्त लगाने वाली। जर्जरित=फटे हुए। लथपथ=पूर्णतः सने हुए। कपोल=गाल। अवरुद्ध=रुका हुआ-सा; बाधायुक्त। अगत्या=अन्त मे। आहत=घायल। कृष्णा=द्रौपदी। अस्तकाल=सूर्यास्त का समय। दुकूल=वस्त्र; आंचल। सुदूर=बहुत दूर। यम-छाया=यम की छाया।

प्रसंग –पाण्डव हिमालय के उच्च शिखर पर निरन्तर चलते चले जा रहे हैं। मर्यादानुसार सबके आगे धर्मराज युधिष्ठर थे। उनसे पीछे वयक्रम में शेष चारों भाई चल रहे थे। उन पाँचों पाण्डवों के पीछे थी द्रौपदी। प्रस्तुत अव-तरण में कवि द्रौपदी का वर्णन एवं परिचय देता हुआ कहता है :

व्याख्या—धर्मराज युधिष्ठर, भीम आदि सभी पाण्डवों के पीछे-पीछे पाण्डव-दल की सांसारिकता का साकार रूप, पत्नी, प्रिया एवं सेविका एवं ज्ञानवान् राजा द्रुपद की पुत्री द्रौपदी हिमालय के उच्च शिखर पर निरन्तर चलती चली आ रही है। वह धर्मराज युधिष्ठर की सेविका थी, भीमसेन पर उसका कौशल से पूर्ण अधिकार था अर्थात् वह द्रौपदी भीमसेन से जो भी कार्य कराना चाहती थी, करा लेती थी। पाण्डवी के नाम से जानी जाने वाली द्रौपदी अर्जुन से एकनिष्ठ होकर प्रेम करती थी। दूसरे शब्दों में, द्रौपदी अर्जुन की सच्ची प्रेयसी थी। उनके वस्त्र जीर्ण-शीर्ण हो गए थे। मार्ग की कांटेदार वनस्पतियों के स्पर्श के कारण उनके गालों में खरौंचे आ गयी थीं जिनके परिणामस्वरूप उनके गालों पर रक्त झलक रहा था। अधिक थकान के कारण उनकी श्वांस अवरुद्ध हो गयी थी—रुक-रुक कर आ रही थी। वह हिम पर अग्नि-रेखा के समान घिसटने के कारण जान पड़ती थी। अर्थात् उसका तेज अब भी अग्नि के सदृश लगता था अथवा वह कष्टों को सहन कर, कष्टों में तपकर साक्षात् अग्नि-रेखा सदृश ही हो गई थी। और अन्त में, अन्तिम भोजपत्र को थामकर घायल होकर गिर पड़ी थीं।

सूर्य के अस्त के समय की अन्तिम लालिमा, जो अब तक घाटी में शेष बची रह गयी थी, वह सहमा डूब गयी—वह कहीं दूर दिशाओं के पार समाप्त होती लग रही थी। ऐसा प्रतीत होता था कि सूर्यास्त की वह लाली दुकूल थी जिसे किसी ने हठात् ही स्मरण के समान खींच लिया हो। अर्थात् कभी समाप्त न होने वाली स्मृतियाँ उसी प्रकार थीं जैसे सूर्यास्त के समय फैली लाली के आचल को किसी ने खींच लिया हो। सूर्यास्त के समय की लालिमा के समाप्त होने पर अन्धकार दूर-दूर तक यम की छाया के समान नंदा और त्रिशूल नामक शिखरो पर उतर रहा था अर्थात् नंदा और त्रिशूल नामक शिखर रात्रि के अन्ध-कार से आवृत होना प्रारम्भ हो गए थे। उस नैशांधकार में चीड़ और देवदार के वृक्ष चौंके-से—स्तम्भित—से लग रहे थे। लगता था जैसे उनकी क्रियाए रुक गयी हो।

विशेष—(१) प्राकृतिक दृश्य के सदृश ही द्रौपदी का जीवन भी था। सूर्यास्त से आशय है कि द्रौपदी के जीवन का अन्तिम समय। फैली हुई लालिमा उसकी स्मृनियां थी। अन्तिम भोजपत्र उसके जीवन की यात्रा की अन्तिम घटना की ओर सकेत करता है।

(२) प्रकृति का चित्रण सूक्ष्मता के साथ हुआ है।

(३) चाक्षुस विम्ब है।

(४) अलंकार—उपमा, उदाहरण, अनुप्रास।

शुरू हो गया था··· ·······किन्तु घटने को था। (पृष्ठ ६१-६३)

शब्दार्थ—हिमपात=बर्फ का गिरना। अर्वतन्द्र=अर्द्धनिद्रित, आधी सोई एवं आधी जागी हुई। वल्लरी=वेल, लता। परान्त=उपरान्त, पश्चात्। निस्तव्ध=शांत, सज्ञाहीन। नवागता=नई आने वाली। कृष्णावल्ली=द्रौपदी रूपी लता। उपत्यका=पहाड़ी मार्ग, जो गहरा होकर नीचे को उतरता है। व्याघ्र=चीता। सन्नाटे=पूर्णतः चुप्पी। निमीलित=आखों का खोलना। विगत=बीता हुआ। घटने=घटित होने वाला।

प्रसंग—धर्मराज युधिष्ठर, भीमसेन आदि पाण्डवों के पीछे-पीछे द्रौपदी हिम-शिखर पर निरन्तर चढ़ती चली जा रही थी। सूर्यास्त के कारण सध्या-कालीन लालिना फैलकर समाप्त हो रही थी। नैशांधकार शिखरों और वृक्षों को आच्छादित कर रहा था और उनकी छायाए यम की छायाओं के समान लग रही थी। इससे आगे का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

व्याख्या—चारो ओर हिम का गिरना प्रारम्भ हो गया था। लगता था जैसे द्रौपदी की आशाओं पर हिमपात हो रहा था। वह एक भोजपत्र के सहारे कुछ खोई-खोई सी, जीवन की स्मृतियों मे डुबी हुई-सी, ऐसे टिकी हुई थी मानो कोई लता अपना वृक्ष रूपी आधार खोज रही हो। वर्षा होने के पश्चात् सज्ञा-हीन वायु में बर्फ ऐसे गिर रही थी जैसे बर्फ के ठण्डे पुष्पों की वर्षा हो रही हो। यह बर्फीली फूलों की वर्षा चारों ओर–सभी दिशाओं में हो रही थी। वही नई आई हुई द्रौपदी रूपी लता भोजपत्र के साथ ही बरसने वाले इन हिम-फूलों की उज्ज्वलता मे डूब रही थी अर्थात् उस पर हिम पुष्पों की वर्षा हो रही थी। द्रौपदी उस समय अपने भावों में खोई हुई थी, उस समय उनके भाव सात्विक एवं पवित्र थे।

वहुत दूर-दूर तक, मीलों तक, जहाँ तक भी दृष्टि जाती थी, बर्फ ही बर्फ

दृष्टिगत होती थी। दूर तक फैली हुई वह बर्फ चिकने रूप में बिछी हुई प्रतीत होती थी। साथ ही यह बर्फ सपाट रूप से फैली हुई निर्मम, कठोर एवं निर्जन लगती थी; कारण, वहाँ पर वनस्पति का अस्तित्व किसी भी रूप में संभव नहीं था। पर्वतीय मार्गों, शिखरों अथवा निचले ढलानों पर यह बर्फ चिकने फर्श के समान दृष्टिगत होती थी। चारों ओर सन्नाटा—गहन मौन—परिव्याप्त था; उस सन्नाटे में हिम-नद, सतर्क होकर, व्याघ्र के समान चौकन्ने होकर सरकते हुए दृष्टिगत होते थे। अर्थात् वे हिम-नद दूसरों से अप्रभावित रहकर धीरे-धीरे सरक रहे थे। उस समय द्रौपदी स्वयं अपनी स्मृतियों में उसी प्रकार डूबी थी जिस प्रकार कोई झील अपने ही जल में डूबी हुई दृष्टिगत होती है। उसका मन भ्रमित था। जब वह अपने नेत्रों को आधा खोलकर सामने की ओर देखने लगी तो सामने कुछ हल्की-सी चढ़ान पर उसके आगे जाने वाले पतियों के पद-चिह्न उनके ऊपर चढ़ते चले जाने की सूचना दे रहे थे। फिर एक के पश्चात् एक का कहीं दूर उसे आभास होने लगा। साथ ही, उसके मन को विगत-कालीन स्मृतियों ने घेर लिया था। जो घटित हो चुका था वह उसके स्मृति-पटल पर था; साथ ही, जो घटने वाला है—अर्थात् पाण्डवों का अन्तिम समय—वह भी उसे प्रत्यक्षतः ही दृष्टिगत हो रहा था।

विशेष—(१) प्रस्तुत अवतरण में प्रकृति का सुन्दर रूप में चित्रण हुआ है।

(२) द्रौपदी के मन में घटने वाली घटनाओं का मेल वाह्य प्रकृति के साथ कर कवि ने अपनी काव्यकुशलता को अभिव्यक्त किया है।

(३) विचारों में खोई द्रौपदी को जल में डूबी झील कहने से कवि ने द्रौपदी की भाव-मुद्रा को एकदम प्रभावी रूप मे अभिव्यक्त कर दिया है।

(४) **अलंकार**—रूपक, उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति।

आँखों के सम्मुख ....**वृक्ष जड़ों से।** (पृष्ठ ६३-६४)

शब्दार्थ—तिर आया=तैर आया, ऊपर आ गया, स्पष्ट हो गया। मत्स्य=मछली। लीन=छिप जाना। दिव्यालंकार=दिव्य आभूषण; यहाँ आशय कर्ण के कवच और कुण्डल से है। शापित=जिसे शाप लगा हुआ हो। सूतपुत्र=सारथी पुत्र; कर्ण। पार्थ=अर्जुन। भार्यापद=पत्नी होने का पद। जावक=महावर, पैरों में लगाया जाने वाला आलता। अलक्तक=महावर। रक्त-स्नात=रक्त में स्नान किए हुए।

प्रसंग—द्रौपदी अपने विचारों में पूर्णतः तल्लीन थी। उसके स्मृति-पटल पर विगत की सभी घटनाएं क्रमशः एक-एक करके उभरती चली आ रही थी। कवि ने प्रस्तुत अवतरण में इन्ही घटनाओं का सांकेतिक चित्रण किया है। कवि का कथन है—

व्याख्या—द्रौपदी के नेत्रों के सम्मुख उसका संपूर्ण विगत जीवन चंचल चलचित्रों के समान उभर आया, उसे अपने विगत जीवन की महत्वपूर्ण घटनाएं प्रत्यक्षतः स्मरण हो आईं, लगता था जैसे वह घटनाए अभी-अभी ही घटित हुई है। जिस प्रकार जल मे उठने वाली लहरियों से चित्र वनते और विगडते रहते है उसी प्रकार उसके सम्मुख उसके जीवन के चित्र अथवा घटनाएं उभर रही थी, उभर कर मिट रही थी, फिर उभर रही थीं और इस प्रकार उसका संपूर्ण जीवन, जीवन की महत्वपूर्ण घटनाएं उसके सामने प्रत्यक्ष होती जा रही थीं। एक स्मृति-चित्र के पश्चात् दूसरा स्मृति-चित्र उभरता चला जा रहा था। वह सोचने लगी कि क्या मेरा स्वयवर इसीलिए आयोजित किया गया था कि मैं जीवन-भर कष्ट भोगती रहूँ। यद्यपि कृष्ण वहाँ उपस्थित थे किन्तु उपस्थित रहकर भी वह अनुपस्थित रहे। उन्होंने स्वयंवर में भाग नही लिया। उस पूर्ण पुरुष ने मछली का भेदन कर मुझसे विवाह क्यों नही किया। यदि वह चाहते तो मछली का भेदन कर सकते थे, किन्तु न जाने किन कारणों से उन्होने ऐसा नही किया। जिस प्रकार से आकाश का पक्षी दिखलाई पड़ते-पड़ते विलीन हो जाता है उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी दिखाई तो दिए लेकिन मत्स्य-भेदन मे भाग न लेकर दिखाई देते-देते भी छिप गए। उनके मन मे उनके द्वारा वरे जाने की इच्छा आकर चली गयी होगी। संभवतः इसी ओर कवि ने यहाँ संकेत किया है।

द्रौपदी के उस महास्वयंवर में कर्ण भी उपस्थित हुआ था, वह कवच और कुण्डल के दिव्य अलकारों से आभूषित था। कर्ण उस महास्वयंवर में, द्रौपदी के वरण-आयोजन मे उसी प्रकार से आया था जैसे श्मशान की अग्नि होती है अर्थात् उसने वहाँ जलाने का ही काम किया। कारण, कर्ण सूतपुत्र था और उसके लिए स्वयवर मे भाग लेना निषिद्ध था, अतः उसे उस आयोजन मे उपस्थित ही नही होना चाहिए था। अत्यन्त वीर और पराक्रमी होने के वावजूद भी द्रौपदी के लिए उसे पति रूप में स्वीकार करना किसी भी प्रकार सभव नही था। उस समय स्वयंवर मे अर्जुन ने ब्राह्मण का वेश धारण कर

द्रौपदी का वरण किया था मत्स्य-भेदन कर। किंतु द्रौपदी के भाग्य ने अथवा यों कहिए दुर्भाग्य ने उसे मात्र अर्जुन की पत्नी न रहने दिया अपितु धर्मराज युधिष्ठर आदि पाँचों पाण्डवों की पत्नी बना दिया। द्रौपदी वर्तमान का स्मरण कर कहती है कि अब तो मुझे मेरा सपूर्ण जीवन एक दुर्भाग्यपूर्ण यात्रा के समान लगता है, कष्टदायक यात्रा जैसा लगता है। वास्तव में जिन चरणों को महावर लगाकर सौभाग्यपूर्ण होना था, वे ही चरण अनवरत रूप से हिम शिखर पर चढ़ते-चलते अब रक्त से लाल हो गये हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि निरन्तर हिम-शिखर पर चढ़ते रहने के कारण चरण छिल गये हैं और उनसे खून बाहर निकल आया है, जो एक प्रकार से दुर्भाग्य का ही प्रतीक कहा जा सकता है। भयंकर हिमपात के मध्य मेरे ये चरण उसी प्रकार जमे जा रहे हैं जिस प्रकार वृक्ष की जड़ें उस वृक्ष को स्थायित्व प्रदान करती हैं।

विशेष – (१) प्रस्तुत अवतरण में कवि ने द्रौपदी के जीवन में दुर्भाग्य के आगमन का प्रभावी चित्रण किया है।

(२) यहाँ द्रौपदी के चरित्र को उभारा गया है। इस प्रकार के विचारों में व्यभिचार नहीं अपितु पश्चाताप के समय अपने दुर्भाग्य पर विचार करना मात्र है।

(३) **अलंकार** यमक, पुनरुक्तिप्रकाश एवं दृष्टान्त।

यह क्या हो गया ····· **फिर युद्ध काल तक**। (पृष्ठ ६४-६५)

शब्दार्थ—एकाकीपन=अकेलापन। दग्ध=जलाना। पाँचो पतियों= युधिष्ठर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव—ये पाँचों द्रौपदी के पति थे। परिधानित=वस्त्र धारण किए हुए। निवस्त्र=वस्त्रहीन, निर्वसना। बाधित=मजबूर, विवश। पामर=नीच, अत्याचारी। बलात्=बलपूर्वक। भार्या=पत्नी।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण मे कवि ने द्रौपदी के उस दुर्भाग्यपूर्ण क्षण का वर्णन किया है जबकि भरी सभा में दुर्योधन के संकेत पर दुःशासन ने उसका—द्रौपदी का—चीरहरण किया था—यद्यपि ऐसा करने मे वह असफल रहा था और दुर्योधन ने बलात् उसे अपनी जंघा पर बिठाया था। उस समय सभा मे धर्मराज युधिष्ठर आदि पाँचो पाण्डव एवं धृतराष्ट्र, द्रोणाचार्य आदि विद्यमान थे। द्रौपदी उसी दुर्भाग्यपूर्ण क्षण का स्मरण करती हुई कहती है—

व्याख्या—देखते-देखते यह न जाने क्या हो गया? यह जीवन कहाँ से

कहा तक आ गया है। और अब तो जीवन-यात्रा का यह अन्तिम पड़ाव है। यहाँ आकर मानो सभी सम्बन्ध समाप्त हो गये हैं— किसी से अब उसका संबध नही रह गया है, यहाँ अब वह बिल्कुल अकेली है। अत्यन्त थकान के कारण उसकी नस-नस झुलस रही है, उसकी चेतना क्षण-अनुक्षण समाप्त होती जा रही है। एक दिन था जब वह मणि-जटित सिंहासन की छत्रछाया मे आनन्दमय जीवन व्यतीत करती थी, कही किसी भी वस्तु की उसे कमी नही थी, चारो ओर सौभाग्य-ही-सौभाग्य नृत्य कर रहा था किंतु आज तो उसके ऊपर एकाकी रूप मे भोजपत्र हिम-बिंदु टपका रहा है। कहने का अभिप्राय यह है कि उसका सौभाग्य अब पूर्णत: दुर्भाग्य मे परिवर्तित हो गया है, उसका भाग्य और भी ठण्डा पड़ गया है। (यहाँ व्यजना है कि वैभव-सम्पन्ना द्रौपदी अब सब कुछ से रहित होकर यहाँ बर्फ के नीचे खड़ी है)।

यहां उसे अपने जीवन की महती दुर्भाग्यपूर्ण घटना का स्मरण हो आता है। उस दिन दुर्योधन की सभा जुड़ी हुई थी जिसमे उसके कुल के, कुटुम्ब के सभी प्राणी उपस्थित थे। धर्मराज युधिष्ठर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव—जो द्रौपदी के पति थे—भी वहाँ समुपस्थित थे। उस समय उन सबके सम्मुख नाम-मात्र के वस्त्रो मे मुझे सभा में लाया गया था। उस समय मै रजस्वला थी और मुझे निर्वस्त्र होने के लिए विवश किया गया था, उस समय मै असहाय थी, विवश थी। नीच और अत्याचारी दु:शासन मुझे बलि-पशु के समान घसीटकर सभा मे लाया था और मुझे कौरवो की सेविका के रूप मे सम्बोधित कर रहा था। उस समय सभा मे कौन उपस्थित नही था? सभी तो उपस्थित थे—धृतराष्ट्र वहां उपस्थित थे, भीष्म पितामह एवं द्रोणाचार्य— जो सभी नीतिवादी और आचार्य थे—भी वहाँ पर उपस्थित थे। मेरे उस रूप को, दयनीय स्थिति को, दु:शासन के अत्याचार को, पाचों पाण्डवों की निष्क्रियता को किसने नही देखा था। कहने का अभिप्राय है कि सभा में उपस्थित किसी भी प्राणी ने ऐसा न करने का विरोध नही किया था। उस समय भरी सभा मे दुर्योधन ने मुझे अपनी जाघ पर बैठने के लिए विवश कर दिया था। आखिर ऐसा क्यो? क्या इसी कारण से कि धर्मराज युधिष्ठर, जिन्हे जुआ खेलने का अधिक शौक था, जुए में हार गये थे और उन्होने दांव पर सम्पूर्ण राज्य के साथ-साथ अपनी पत्नी द्रौपदी को भी लगा दिया था? उस अपमान को सहकर मैने तुरन्त अपने बाल खोलकर यह प्रतिज्ञा की थी कि जब तक दु:शासन के

रक्त से इन बालों को नहीं धोऊँगी तब तक मैं वेणी नहीं बनाऊंगी । फिर तो युद्धकाल तक जब तक दुर्योधन का विनाश नहीं हुआ—मेरे ये केश खुले ही रहे ।

विशेष—(१) प्रस्तुत अवतरण में कवि ने कौरवों—दुःशासन और दुर्योधन—द्वारा द्रौपदी के प्रति किए गए अन्याचारों का सशक्त रूप में वर्णन किया है ।

(२) लेखक ने युधिष्ठर की एक भूल की ओर संकेत किया है ।

(३) **अलंकार**—वक्रोक्ति, दृष्टान्त, उपमा और अनुप्रास ।

हाहाकार कर उठा मन······अपने भाव-कृष्ण से । (पृष्ठ ६५-६७)

शब्दार्थ—नारी तन=स्त्री का शरीर । पण्य=क्रय-विक्रय के योग्य । प्रियापदी=प्रिय की आकांक्षाओं की केन्द्र अर्थात् प्रिया का पद ग्रहण करने वाली । निश्छल=पाप या कालुष्य रहित । राग-भाव=प्रेम भाव । वैजयन्त=वृक्ष विशेष ।

प्रसंग—धर्मराज युधिष्ठर आदि पांचों पाण्डव द्रौपदी सहित हिमालय पर्वत की अन्तिम यात्रा पर निकल पड़े हैं । कवि ने एक-एक कर पाचों पाण्डवों का वर्णन किया है । उनके मन में उठने वाले भावों की कल्पना कर उनके विगत जीवन पर विचार प्रकट किए हैं । प्रस्तुत अवतरण मे कवि द्रौपदी के मन में उठने वाले विचारों का वर्णन कर रहा है ।

व्याख्या—द्रौपदी विचार करती है कि उसका नारी-शरीर वीरों और नीति-विशारदों से युक्त कौरवों की भरी सभा मे लाछित और अपमानित हुआ, उसे निर्वस्त्र करने का असफल प्रयास किया गया, दुर्योधन के द्वारा उसे जंघा पर बैठने के लिए विवश किया गया—और इस सब के सम्बन्ध में विचार कर उसका अपना मन ही नारी-शरीर पर हाहाकार कर उठा । उसे अपना यह नारी-शरीर आपत्ति को आमंत्रित करने वाला ही जान पड़ा । कौरवों की सभा में द्रौपदी का इतना अधिक अपमान हुआ । उस समय द्रौपदी एक व्यक्ति से एक वस्तु बन गई थी—क्रय-विक्रय की वस्तु रूप बन गई थी । प्रिया का गौरव-पूर्ण पद प्राप्त करने वाली द्रौपदी आज पण्य रूप हो गयी थी, धर्मराज युधिष्ठर ने उसे जुए मे दांव पर लगा दिया था, जिसके कारण द्रौपदी को असहनीय पीडा सहन करनी पड़ी । कौरवों ने भी उसका सतीत्व नष्ट करने मे कोई भी तो कसर नही उठा रखी थी । वह मन ही मन निर्णय कर लेती है कि अब कौरव वश का अस्तित्व नही रह सकेगा । वह उसे समूल नष्ट कराकर ही दम

ने सकेगी। यदि उस समय किसी प्रकार से सम्भव हो पाता तो वह पृथ्वी को चीर कर कौरव और पाण्डव दोनों की कुल और कौटुम्बिकता को उसमें डुबा कर सदा-सदा के लिए समाप्त कर देती! किन्तु खेद है, वह ऐसा कर पाने में उस समय समर्थ नहीं हो सकी थी, निराश्रिता जो थी उस समय।

तदनन्तर, उसके मन में कृष्ण का स्मरण हो आया—उस कृष्ण का, जिसे वह कभी भी अपने शब्दों में न बांध पाई थी, उनका गुणानुवाद नहीं कर सकी थी। वह श्रीकृष्ण से किसी प्रकार का सम्बन्ध भी नहीं बना पाई थी—शरीर और मन -मन दोनों में से वह किसी भी आधार पर श्रीकृष्ण से संबंध स्थापित करने में असमर्थ रही थी। दूसरे शब्दों में, स्थिर अथवा ऐकान्तिक रूप से प्रेम भाव स्थापित नहीं कर सकी थी। यद्यपि श्रीकृष्ण वहाँ शारीरिक रूप से उपस्थित नहीं थे किंतु स्मरण करते ही वह वहां—कौरवों की सभा में—उपस्थित हो गए और द्रौपदी को ऐसा आभासित हुआ जैसे वह उसकी आर्त्त पुकार सुनकर सहायतार्थ वहां उपस्थित हो गए हों। द्रौपदी का कथन है—मैं अब भी नहीं सोच पा रहा हूं कि यदि वहां कृष्ण न होते तो इस समय द्रौपदी की क्या दुर्दशा होती। अर्थात् वह घोर अपमान में डूब जाती। कारण कौरवों की सभा से उसकी रक्षा करने वाला कोई भी तो नहीं था। कहने का आशय यह है कि श्रीकृष्ण के कारण ही मैं कौरवों की सभा में अपने सतीत्व को बचाए रख सकी थी। मैं श्रीकृष्ण से पृथक ही क्यों हुई थी, यह ठीक है कि श्रीकृष्ण से सम्बन्ध स्थापित करने पर मैं वैजयन्ती का रूप धारण न कर पाती—उस वैजयन्ती का जिसके फूलों की माला श्रीकृष्ण प्रतिक्षण अपने कण्ठ में पहने रहते हैं—किंतु तुलसी का रूप तो धारण कर ही लेती जिसे कृष्ण का अवलम्ब प्राप्त रहता है।

विशेष—(१) सुनकर आया अपनी कृष्णा की पुकार—जुआ में द्रौपदी को जीतकर दुर्योधन ने दु:शासन से उसे नंगा करने की आज्ञा दी तथा उसे अपने जंघे पर रखने को कहा, पर कृष्ण की कृपा से वह नंगा न कर सका। कहा जाता है कि कृष्ण की कृपा से द्रौपदी की साड़ी इतनी बढ़ गई कि उसे खींचते-खींचते दुःशासन का सहस्र हाथियों का बल समाप्त हो गया पर द्रौपदी का कोई अंग न खुला। अंत में हार कर लज्जा से वह बैठ गया। कविवर जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' ने भी इस स्थिति का चित्रण निम्न शब्दों में किया है—

सारी बिच नारी है कि नारी बिच सारी है,
कि सारी ही की नारी है कि नारी ही की सारी है।

(२) वैजयन्ती का वृक्ष सुगंधमय होता है तथा राजा-महाराजाओं के यहाँ होता है, तुलसी सामान्य पादप है और जंगल में भी उत्पन्न होता है। अतः यहाँ द्रौपदी का आशय यही है कि यदि वह रानी न होकर सामान्य नारी ही रहती तो कृष्ण से उसका भाव-तादात्म्य सरलता से रह सकता था।

(३) **अलंकार**—वक्रोक्ति, विरोधाभास और रूपकातिशयोक्ति।

फिर तो वह लम्बा........................लेश क्रोध। (पृष्ठ ६७)

शब्दार्थ—प्रवास=राज्य से बाहर चले जाना। क्षात्रतेज=क्षत्रियों की तेजस्विता। वीरोचित=वीरों के लिए उचित। श्रुति=कान, सुनना। लाक्षा-गृह=लाख का बना हुआ घर, कौरवों ने पाण्डवों को दावत का निमंत्रण देकर लाक्षागृह में ठहराकर उन्हे मारने की योजना बनाई, किंतु सौभाग्य से वह बच गए। कुटिल=टेढ़े, निर्दयता से भरे हुए। लेश=तनिक भी।

प्रसंग—द्रौपदी के मन में विगत जीवन में सही गई आपत्तियों के प्रति विचार चल रहा है। यहाँ वह सोचती है—

व्याख्या—कौरवों के द्वारा राजसभा में द्रौपदी का अपमान हुआ, इसके पश्चात् पाण्डवों का राज्य-त्यागकर जंगल में मारे-मारे फिरने का क्रम आरंभ होता है जो एक लम्बे समय तक चलता है। जब उन परेशानियों पर शांत भाव से सोच-विचार करती है तो उसे—द्रौपदी—अनुभव होता है कि सच ही ये पांचों पाण्डव—युधिष्ठर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव—ब्राह्मण वृत्ति से युक्त हैं, उनमें त्याग है, विनम्रता है, संतोष है। स्वयंवर के समय पर भी तो उनमें ये ही भाव विद्यमान थे। समझ में नही आता कि इनमें दुर्योधन की राजसभा मे अपमान के समय प्रतिरोध स्वरूप क्षत्रियों जैसा तेज जाग्रत क्यों नही हुआ? इनमें क्रोध का भाव उदय क्यों नहीं हुआ, अत्याचार अथवा अनाचार का प्रतिरोध करने के लिए ये खड़े क्यों नही हो गए? कहने का भाव यह है कि इनका आक्रोश और क्षत्रियों वाला पुरुषार्थ जागकर कौरवों का विरोध क्यों न कर पाया। कौरवों जैसे कठोर और दुष्ट प्रकृति वाले व्यक्तियों से भी यह सुनते रहे—जैसा वह चाहते थे करते रहे और ये सब सभा में मुंह नीचा कर सब कुछ सुनते और सहन करते रहे। न जाने किस कारण से उनका—कौरवों का—विरोध नहीं किया। दुर्योधन ने हर क्षण, हर पग पर अपने कुटिल कार्य किए। धोखे से लाख से बने घर में उन्हें ठहराकर वह मारना चाहता था। उसने इसी प्रकार के अनेक जघन्य कार्य किए तो भी कभी पलभर के लिए ब्राह्मण के

समान गुणवाले धर्मराज युधिष्ठिर को कभी भी क्रोध नही आया।

विशेष—(१) धर्मराज और ब्राह्मण जैसे शब्दों के प्रयोग से युधिष्ठिर और पाण्डवो के धर्मपालन और विनम्र बने रहने की ओर सकेत किया है।

(२) अलंकार—परिकर एवं पुनरुक्तिप्रकाश।

ठिठुर रही थी देह········ ···यहाँ हो पार्थ। (पृष्ठ ६८-६९)

शब्दार्थ—ठिठुर=अत्यधिक शीत से कापना। पामर=नीच, दुष्टतापूर्ण कार्य करने वाला। लालसा=किसी वस्तु को प्राप्त करने की तीव्र इच्छा। पिपासा=प्यास, लालच। टाक देना- आवाज लगाना।

प्रसंग-- युधिष्ठिर आदि पाण्डव जीवन की अन्तिम यात्रा पूर्ण करने हिमालय की चोटी पर निरन्तर ऊपर, ऊपर की ओर चढ़ते चले जा रहे हैं। विगत जीवन को लेकर उनके मन मे विभिन्न विचारो का आगमन-निगमन होता है। द्रौपदी भी इसका अपवाद नही है। प्रस्तुत अवतरण मे कवि ने, द्रौपदी के मन में विगत जीवन के कष्टो को लेकर जो एक संघर्ष हो रहा है, का मार्मिक अंकन किया है। कवि का कथन है :

व्याख्या—अत्यधिक शीत के कारण द्रौपदी का शरीर कांप रहा था किंतु नीच और दुष्ट प्रवृत्ति वाले कीचक का स्मरण करने मात्र से उसका मन अग्नि की भाति जल रहा था—धधक रहा था। धर्मराज युधिष्ठर साधु प्रकृति के व्यक्ति थे अत वह द्रौपदी से केवल चरणो की सेवा की आकाक्षा रखते थे। भीम एक वीर पुरुष थे किंतु पत्नी के प्रेम को कभी भी न पा सके थे। नकुल और सहदेव मात्र कृपा के पात्र बने रहे अर्थात् इनसे कभी भी द्रौपदी के मन की शाति नही मिली थी। द्रौपदी आगे सोचती है यदि अर्जुन न होते तो उसका पत्नीत्व-स्त्रीत्व अधूरा ही रह जाता। कहने का अभिप्राय यह है कि अर्जुन के कारण ही द्रौपदी को पूर्णता प्राप्त हो सकी है। शरीर रूप कदम्ब की बसन्त ऋतु अर्थात् पुष्प रूपी प्रसन्नता उसे न मिल पाती और मन की क्रोधपूर्ण भूख भी पूरी न होती जिसमे कि कौरव और पाण्डव दोनो ही दल भस्म हो गए थे जैसे कि रजस्वला द्रौपदी का सम्मान-अभिमान दुर्योधन की सभा मे चीर-हरण के समय सदा-सदा के लिए समाप्त हो गया था। उस दिन वह अकेली ही रह गयी थी, कोई भी तो रक्षा करने मे समर्थ न हो सका था। फिर भी, पार्थप्रिया द्रौपदी के केश खुले के खुले ही रह गये अर्थात् उसका क्रोध शान्त नही हुआ और न ही उसने अपनी कसम ही त्यागी। द्रौपदी के

शरीर रूप में आज वही तीव्र इच्छा और लालच की प्यास घुटनों और हथेलियो, जैसे-तैसे कष्ट सहन करते हुए, के रूप मे यहाँ चलकर इस एकाकी, सुनसान बर्फीले रास्ते पर चलकर आई है और अब अपनी व्याकुलता में द्रौपदी अर्जुन को पुकार रही है कि वह कहाँ है ?

विशेष—(१) **कीचक**—मत्स्यराज विराट का साला तथा प्रधान सेनानायक। इसकी वीरता का आतक सबके ऊपर था। जिस समय पाण्डव अज्ञातवास में विराट के यहाँ नौकर रूप में रहते थे, द्रौपदी भी वहाँ दासी थी। कीचक द्रौपदी पर मोहित हो गया और उसने अपने विचार इससे प्रकट किए। द्रौपदी ने भीमसेन से कहकर कीचक को रात में मरवा डाला।

(२) प्रस्तुत अवतरण में कवि ने पाण्डवों का धर्मराज युधिष्ठर आदि पांचों पाण्डव का द्रौपदी से संबंध निरूपित किया है।

(३) **अलंकार**—रूपक, विशेषण-विपर्यय एवं विरोधाभास।

हिमांधियों, हिमपात बीच·········· तुम कहाँ पार्थ। (पृष्ठ ६६)

शब्दार्थ—हिमांधियों=हिम की आँधियाँ। आवद्ध=बन्धे हुए। पाखी=पक्षी। आश्रय-आकुल=आश्रय के लिए आकुल। सूर्यास्तकाल=सूर्य के अस्त होने का समय।

प्रसंग—द्रौपदी पर अर्जुन का विशेप स्नेह था। हिमालय के उच्च शिखर पर जाते हुए वह उसी को—अर्जुन को—आवाज लगाती है—'कहाँ हो पार्थ ?' इसी का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

व्याख्या—प्रार्थप्रिया द्रौपदी को वह आतुर पुकार—'कहाँ हो पार्थ ?' बर्फीली आंधियों और गिरते हुए हिम के मध्य जाकर खो गई। द्रौपदी और भोजपत्र दोनों हिम से युक्त होकर आलिप्त परस्पर आवद्ध थे। उसकी कातर पुकार, उस निर्जन हिम प्रदेश मे अकेले पक्षी के समान लग रही थी। 'पार्थ, तुम कहाँ हो !' उसकी यह आवाज उस घने बर्फीले एकान्त वातावरण पर आश्रय की व्याकुलता लिए सूर्यास्त काल की दिशा में उभर रही थी।

विशेष—(१) 'आश्रय-आकुल'—आश्रय की खोज की सुन्दर व्यंजना है।

(२) सूर्यास्तकाल से यह भी अभिव्यंजित है कि उसके जीवन की संध्या भी निकट है।

(३) प्रस्तुत अवतरण में द्रौपदी का एकाकीपन, जीवन की संध्या, अर्जुन के प्रति उसका ऐकान्तिक प्रेम-भाव का सुन्दर वर्णन हुआ है।

(४) **अलकार**—उपमा, पुनरुक्तिप्रकाश और अनुप्रास।

स्वाहा-पर्व

प्रिये ! हिमपात के....... ... ...नष्ट हो गयी। (पृष्ठ ७३-७४)

शब्दार्थ—श्वेत=सफेद। सुपर्ण=सुन्दर पत्ते। ऊर्ध्वता=ऊंचाई। परिणत=परिवर्तित। वृक्षछाल=पेड़ की छाल। धूम्रवस्त्र=धुएं के रंगवाले वस्त्र। परित्याग=छोड़ना। ताम्रवर्णी=तावे के रंगवाली। यात्रित=यात्री। अभिषेकित=अभिषेक होना, राज्य सिंहासन पर आरूढ़ होने पर छिड़का जाने वाला जल—यहाँ पवित्र करने के लिए वर्फ गिर रही है, उसी की ओर संकेत है। प्रतिहिंसा=हिंसा के बदले में की जाने वाली हिंसा, बदले की भावना।

प्रसंग—पूर्व सर्ग (यात्रा-पर्व) के अन्त मे द्रौपदी अर्जुन को पुकारती है—'कहाँ हो पार्थ !' दूसरे सर्ग—स्वाहा पर्व-२ (प्रस्तुत सर्ग) के प्रारम्भ मे द्रौपदी की पुकार की व्यर्थता पर युधिष्ठर कहते है—

व्याख्या—हे प्रिये द्रौपदी ! पख के समान लम्बी शाखाओ वाले उस सुन्दर पत्ते वाले भोजपत्र के वृक्ष के नीचे न ठहरो जिसके पत्ते हिमपात के श्वेत बोझ से नीचे की ओर झुक गए है। आगे युधिष्ठर द्रौपदी को सम्बोधित कर कहते है—अर्जुन अथवा अन्य किसी को भी पुकारना अब व्यर्थ ही है। कारण यह है कि ऊर्ध्वता की सीमा पर पहुँचकर सामूहिकता नितान्त वैयक्तिकता में परिवर्तित हो जाती है। इतना ही नही, एक और भी ऊंचाई होती है जहाँ पहुँचकर इस शरीर को वैसे ही त्याग देना पडता है जैसे वृक्ष अपनी छाल का त्याग कर देते है। जिस प्रकार धुएं रूपी वस्त्रों का परित्याग कर तावे के रंगवाली अग्नि आकाश मे यज्ञ का भार वहन करती है उसी प्रकार यह मन भी ससार के सभी प्रकार के सम्बन्धो से रहित होकर, बाधाविहीन यात्री के समान होकर धर्म का पालन करता है। अतः हे प्रिये ! तुम अर्जुन को न पुकारो—वैसे भी यात्रा किसी की पुकार नही हो सकती है और न ही किसी के प्रति मोह से बद्ध होकर पुकारते हुए यात्रा ही सम्पन्न हो पाती है। उस हिमपात मे राज्य सिंहासन पर विराजते समय के जल-छिडकाव के रूप में बर्फ से ढके उस सन्यासी रूपी भोजपत्र के नीचे वैठकर कच्ची बर्फ पर अब उन नामों को लिखना एकदम व्यर्थ होगा। कहने का अभिप्राय है कि जिन नामों को तुम जानती हो अथवा युद्ध में घटने वाली घटनाओं और प्रतिशोध लेने की भावना का स्मरण करना भी अब बेकार है।

विशेष—(१) विगत की घटनाओं और बातो का स्मरण करना व्यर्थ है—

यहां इसी ओर संकेत किया गया है।

(२) जीवन की वानप्रस्थ-भावना का यहाँ सांकेतिक वर्णन है।

(३) **अलंकार**—उपमा और समासोक्ति।

अन्य किसी ग्रन्थि ······ ·· परिवेष्ठित कर देता है।

शब्दार्थ—ग्रन्थि=गाठ, प्रतिज्ञा। काष्ठ-दण्ड=लकड़ी के डण्डे। वहन=उठाना, भार उठाना। अग्नि=आग, दूसरे के प्रति प्रतिशोध की भावना। दाहकता=जलाने की शक्ति। ऊष्मा=गर्मी। क्षार=राख। स्वत्वहीन=अधिकार-भावना से रहित। आच्छद=छत्र, ढंकने वाली वस्तु। परिवेष्ठित=लपेटना।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण में धर्मराज युधिष्ठर द्रौपदी को बतलाते है कि यात्रा में किसी को पुकारने से अथवा विगत जीवन की घटनाओं का स्मरण करने से कोई लाभ नहीं है। यहाँ वे मन की ग्रन्थि के विषय में कहते हैं—

व्याख्या—हे प्रिये द्रौपदी! मन में अन्य किसी बात की गांठ बनाए रहने से कहीं अधिक अच्छा दूसरों के कल्याण के दृढ़ निश्चय की गाठ बनाए चलना है। अतः हमें विगत की प्रतिशोध लेने वाली इच्छाओं को भूल जाना चाहिए। वह आगे द्रौपदी को संबोधित कर कहते हैं—हे प्रिये! यह हिममार्ग, जिस पर हम सब निरन्तर बढ़ते चले जा रहे है, अब यहाँ से धर्मपथ में परिवर्तित हो रहा है। इस मार्ग को हम अपने हाथों में लकड़ी के डण्डों के आश्रय से पूर्ण नहीं कर सकते अपितु इस धर्म के मार्ग पर हम तभी चल सकते हैं और अपना उद्देश्य पूर्ण कर सकते है जब हममें मन का दृढ संकल्प हो। कहने का भाव यह है कि मन के दृढ़ संकल्प के आश्रय से ही हम धर्म पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। वे आगे कहते हैं कि उन्हें विश्वास है कि उनमें अग्नि रूपी ईर्ष्या का भाव अब शेष नहीं रह गया है, किसी के प्रति तुम्हारे मन में अब प्रतिशोध की भावना नहीं रह गयी है और इसीलिए उसमें जलाने के लिए आवश्यक गर्मी भी शेष नहीं रह गयी है। तुम्हारे शरीर मे जो भी तमोगुण अवस्थित था उस सबको अग्नि ने जलाकर क्षार कर दिया है। अतः ईर्ष्या, प्रतिशोध की भावना सब कुछ समाप्त हो चुके है। तुम्हारे खुले केश वाला प्रण पूर्ण व्यक्तित्व, जो मात्र एक धातु के समान था, और कुछ न होकर, अपने से हीन होकर मात्र एक चारो ओर से ढँकने या लपेटने की वस्तु मात्र है। यहाँ धर्म का ही साम्राज्य है। यहाँ मात्र बर्फीला वातावरण है, यहाँ समस्त दिशाओं में आकाश

ही आनन्द के रूप में स्वीकृत होता है, इसके अतिरिक्त और कुछ स्वीकार नहीं किया जाता। यहाँ तक स्वर्ग ही ऐसा रहा है कि भोजपत्र तक स्वयं हिम से ही आच्छादित रहते हैं, परिवेष्ठित रहते हैं, चारों ओर से ढके रहते हैं।

विशेष—(१) जीवन के अन्तिम समय में केवल धर्म ही मानव के साथ जाता है—इस ओर कवि ने स्पष्ट संकेत किया है।

(२) अलंकार—वक्रोक्ति।

घटनाएं बीतकर.........................सब शेष। (पृष्ठ ७५-७६)

शब्दार्थ—कुण्ठित=निराश। वलयित=घेरना। वलय=घेरा; छल्ला। दावानल=वन की आग। अक्षत=हानिरहित। हीरक=हीरे का। माणिक=लाल रंग का एक रत्न विशेष। विगत=बीता हुआ। सब शेष=सब कुछ समाप्त हो जाना।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण में धर्मराज युधिष्ठिर द्रौपदी से विगत को विस्मृत करने के लिए कहते हैं। युधिष्ठिर का द्रौपदी के प्रति कथन है :

व्याख्या – हे प्रिय द्रौपदी! जीवन में जो कुछ घट गया होता है वह हमें कालान्तर में निराशा से घेर लेता है। विगत की घटनाओं का स्मरण कर हमारा जीवन निराशा से युक्त हो जाता है। चारों ओर उदासी ही उदासी दीख पड़ती है और हम इन जले हुए घेरों को धातु रूपी व्यक्तित्व का सार समझ लेते हैं और समझ लेते हैं कि इसी व्यक्ति के सहारे हम साम्राज्यों को खाक में मिला सकते हैं। हे प्रिये! किंतु वास्तविकता इससे एकदम भिन्न है। युद्धों और प्रतिशोध लेने की भावना की भयानक दावानल में कोई भी सुरक्षित नहीं रह सकता है—न कृष्ण सुरक्षित रह सकते हैं, न अर्जुन सुरक्षित रह सकते हैं, न तुम सुरक्षित रह सकती हो और न ही मैं सुरक्षित रह सकता हूँ। सभी इसमें भस्मसात हो जाएंगे। कहने का अभिप्राय यह है कि युद्ध के दुष्परिणाम से सभी प्रभावित होते हैं। युद्ध की आग से कोई भी नहीं बच पाता है। तुम्हें जो मोह ने घेरा हुआ है वह उस काष्ठ भवन के समान है जिसे दीमक ने खा लिया है। कहने का भाव यह है कि तुम्हारा मोह मात्र क्षण में विनष्ट हो जाएगा। सम्पूर्ण संसार इससे बच नहीं सका है। हे द्रौपदी! अब तक हमारा सब कुछ समाप्त हो चुका है—हीरे का संसार—वैभव और सम्पदा—लाल रंग के माणिक्य रूपी मानव अथवा मन को आनन्द देने वाली लालसाएं (लोभ से

युक्त इच्छाएं) सभी कुछ तो समाप्त हो गयी हैं। दूसरे शब्दों में, राजसी वैभव, अतुलित धन-सम्पदा, वीर पुरुष और मन की सभी लालसाएं अब तक समाप्त हो चुकी है। जल में विभिन्न प्रकार के चित्र उत्पन्न करने वाली लहरों के समान क्षणिक रूप से स्मृतियाँ आकर संसार को उजागर कर जाती हैं लेकिन जो बीत गया है वह भी भ्रम ही है। कारण, जो कुछ भी था, वह सब समाप्त हो चुका है, सब समाप्त हो चुका है।

विशेष—(१) संसार की क्षणभंगुरता की ओर स्पष्ट संकेत है।

(२) युधिष्ठर की विचारशीलता पर प्रकाश पड़ता है।

(३) युद्ध की विभीषिका की ओर संकेत करके इससे बचने की व्यंजना भी की गई है।

(४) **अलंकार**—दृष्टान्त, उपमा और रूपक।

प्रभू के नील नेत्रों............ नष्ट हो गयीं। (पृष्ठ ७६-७७)

शब्दार्थ—सारंग=सुन्दर। असंग=साथी विहीन; अकेला। प्रशान्त=अत्यधिक शान्ति वाला। आगत=आने वाली। आश्वस्ति=विश्वास। मोहक=सुन्दर।

प्रसंग—धर्मराज युधिष्ठर द्रौपदी को समझाते है कि हमारा मोहक संसार समाप्त हो गया है। प्रस्तुत अवतरण में वह हिमालय के निमंत्रण की ओर इंगित कर द्रौपदी से कहते है—

व्याख्या—हे प्रिये द्रौपदी! प्रकृति का यह अतुलित वैभव, परम प्रभू के नीले नेत्रों जैसा यह सुन्दर और मोहक आकाश तथा योगियों के निस्संग मन के समान सुख-दुःख की भावनारहित एवं शांत-गंभीर हिमालय क्या तुम्हें अपनी ओर आकर्षित नही करता है? मुझे लगता है कि प्रकृति का वैभव, उसकी शातता, गम्भीरता, व्यापकता सभी कुछ तो तुम्हें अपनी ओर आकर्षित कर रही है। क्या जो कुछ बीत गया है वह अधिक सुन्दर है—उसकी आकृतियाँ-स्मृतियाँ मन को विदग्ध कर रही है? शायद नहीं, बिल्कुल नही। विगत को लेकर मानव की पुकार आगे आने वाले समय में देवताओं की आश्वस्ति और विश्वास से अधिक सुन्दर नही है। विगतकालीन स्मृतियाँ तो हृदय को अब भी विदग्ध किए हुए है। हे द्रौपदी! निश्चय ही विगत की अपेक्षा यह आगत—इसका निमंत्रण सब कुछ सुन्दर है। उस हिमपात मे राज्य सिंहासन पर विराजते समय के जल-छिड़काव के रूप में बर्फ से आवृत उस सन्यासी रूपी

भोजपत्र के नीचे बैठकर कच्ची बर्फ पर अब उन नामों को लिखना एकदम व्यर्थ होगा। कहने का अभिप्राय यह है कि जिन नामो को तुम जानती हो अथवा युद्ध में घटने वाली घटनाओं और प्रतिशोध लेने की भावना का स्मरण करना भी अब बेकार है।

विशेष—(१) विगत को भूलकर आगत का स्वागत करने की प्रेरणा यहाँ दी गई है।

(२) अलंकार—उपमा और उदाहरण।

उठो प्रिये ! ··· · ·········**विलीन हो चुका है।** (पृष्ठ ७८-७९)

शब्दार्थ—कोटि-कोटि=करोडों। पदचिह्न=पैरो के निशान। बासी=पुराने, जीर्ण-शीर्ण। सुदूर=बहुत दूर। पगडण्डी=पैदल चलने का मार्ग। भग्न=टूटे हुए। अमानुषी=जो अमानवीय है। विलीन=समाप्त हो जाना, मिल जाना।

प्रसंग—धर्मराज युधिष्ठर विगत की घटनाओं की स्मृतियो को क्षणिक एवं व्यर्थ बतलाते है। अपने कथन को अग्रसर करते हुए वह द्रौपदी से कहते है—

व्याख्या— हे प्रिय द्रौपदी, उठो ! तुमको इससे पूर्व ही उठ जाना चाहिए कि तेज वर्फ की सरपट दौडती आंधियाँ और वृक्ष की पत्तियों के रूप मे गिरने वाली श्वेत रंग वाली वर्फ तुम्हारे जाने वाले पतियों के पदों के चिह्नों को दबा दे और पति भी बिना बताए, अनजाने स्थान की ओर, किन्ही अनजान पहाड़ी मार्ग से होकर अपनी यात्रा—गन्तव्य स्थान की ओर बढ जाएं।

हे प्रिय ! तुम यों ही आवाज लगा रही हो। इस प्रकार से कही कुछ नही लौटा करता, सरिता में प्रवाहित हुआ जल, बीता हुआ समय और गया हुआ जीवन कभी भी लौटकर वापिस नही आया करता और फिर, उस विश्व के विषय मे कोई बात करना या लौटने की बात करना तो और भी व्यर्थ होगा जिसे हम दृढ निश्चय के साथ छोड चुके है, जो संसार हमारे लिए श्मशान भूमि के समान हो चुका है, जिस वैभव मे जिस साम्राज्य-प्राप्ति में इतनी हत्याए हुई, उसे हम उसी प्रकार त्याग चुके है जैसे हम जीर्ण-क्षीण वस्त्रो को त्यागकर नवीन वस्त्र धारण कर शरीर की अनवरत रूप से रक्षा करते है। हे प्रिये ! देखो, दूर तक दृष्टि दौड़ाओ, क्या कही कोई लौटता हुआ मार्ग तुम्हे दृष्टिगत हो रहा है ? सभवत. नही। कारण, ये सब तो जाने के लिए ही है।

पैदल चलने का संकरा मार्ग भी कोई प्रतीत नहीं होता और जो दिखाई देता है उसी से संबंध हो सकता है। यदि तुम में देख पाने और समझने की शक्ति है तो अपने उस भग्न ससार को देखो। क्षितिज के पार देख पाना असंभव है अर्थात् जो यथार्थ है, जो हमारे सामने है, हम उसी को देख पाने मे समर्थ होते है। जहाँ मानवीयता से रहित अन्धकार होता है वहाँ कुछ भी देख पाना कठिन है। अमानवीयता हमारे अत्यन्त निकट आ गयी है। वह अनदेखा भी हमारे अत्यन्त निकट आ गया है। तुम जहाँ तक जाना चाहो, चले जाओ, लेकिन तुम्हें कुछ प्राप्त होने वाला नहीं है। कारण, जो कुछ था वह सब घुलमिल-सा गया है—सब कुछ समाप्त हो गया है।

विशेष—(१) प्रारम्भ में तेज सपाटे मारती हिमाधियों का वर्णन है तो बाद में निस्सार संसार के त्याग का सुन्दर वर्णन है।

(२) **अलंकार**—उपमा और उदाहरण।

भोजपत्रों की आरण्यकता ...जाने दो कृष्णा। (पृष्ठ ७६-८१)

शब्दार्थ—आरण्यकता=जंगली सभा का वातावरण। शालीन=विनम्र, लज्जाशील। सुरम्य=सुन्दर। माधवी=मधु से पूर्ण। वेणी=चोटी। आरक्त=गहरे लाल। सोपानी=उतार-चढ़ाव वाले। अयाल=बाल के समान अलग-अलग पत्तो में। आहट=आवाज़। उद्दाम=तीव्र वेग। प्रचीर=दीवारें। मणिदीप=मणियों के समान चमकने वाले दीपक। षड्यन्त्र=धोखे वाली योजनाएं। अनासक्त=बिना किसी लगाव के। मंजूषा=सन्दूक, पेटी।

प्रसंग—युधिष्ठर द्रौपदी को समझा रहे हैं कि हम कितना ही प्रयास करें लेकिन हमें विगत का कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता। आगे वे प्रकृति एवं राजसी वैभव का वर्णन करते हुए कहते है :

व्याख्या—इस स्थान पर पहुंचकर भोजपत्रों का जंगली वातावरण, देवदारु के वृक्षों की विनम्र एवं लज्जाशील कतारें, चीड़ के सुन्दर और मनोहारी वन, औषधियाँ देने वाली मधु से युक्त वनस्पतियाँ और तुम्हारे जूड़े में शोभित होने के लिए आकुल वे लाल-लाल पुष्प कहाँ चले गए ? अर्थात् वे सब पीछे छूट गए। वास्तविकता तो यह है कि इस असार ससार में कुछ भी साथ नहीं चलता है। सब कुछ यहीं रह जाता है। सुनहरी जल की झील के समान लगने वाले गेहुओं के उतार-चढाव वाले वे खेत, घास की पतली शाखाओं के मध्य से निकलने वाली वे एकान्तप्रिय हवाएं, मुख में अधकुचली घास दबाते

हुए, आहट की टोह लेकर चौकन्ने रहने वाले हरिण, तीव्र आकाक्षाओं की भांति प्रवाहित होने वाली सरिताए ऐसी लगती थी जैसे मैदान में पहुँचने के लिए व्याकुल होकर निचुड़ने वाले पहाड ही हो, और उनके बाद भी वे राज-मार्ग, नगर की चारदीवारी, ऊँचे-ऊँचे किले और राजमहल, प्रकोष्ठ, प्रकाशित होते हुए मणिदीप, धोखे और छल-कपट से युक्त विभिन्न योजनाएं, हत्याएं, करुणा और दुःख से परिपूर्ण चीत्कारें—ये सब कहाँ चली गयी है। हे कृष्णा ! तुम कहाँ लौट जाने के लिए केश खोले मान किए बैठी हो ? तुम्हारे मन में जो ससार की खण्डित स्मृतियाँ विद्यमान हैं उन सबको सदा-सदा के लिए बंद कर दो। इन स्मृतियो को ताला लगाकर इसकी चाबी बिना किसी आसक्ति अथवा लगाव के समर्पित कर दो। स्मृतियों की इस भस्म के समान सन्दूक को किसी हिम नदी मे वह जाने दो और अपने व्यक्ति को आकाश के समान व्यापक बनाकर प्रतीति हीन कर दो।

विशेष—(१) प्रस्तुत अवतरण में प्रकृति का सुन्दर चित्रण अप्रासंगिक रूप मे हुआ है। यहाँ सांकेतिक रूप मे यह भी अभिव्यंजित है कि संसार असार है, व्यर्थ है, इससे सम्बन्धित स्मृतियाँ भी भस्म करने वाली ही है, उन्हें सदा के लिए विस्मृत कर अपने व्यक्तित्व को महान् बना लेना चाहिए।

(२) आहट लेते······· कस्तूरी मृग—महाकवि कालिदास की निम्न-लिखित पंक्तियों से मिलाइए—

आधे चबे तिनके
थकान से खुले मुंह से
गिर गिर जाते है
रास्ते में इधर-उधर।
बड़ी-बड़ी कुलांचे भरता,
धरती पर कम टिकता,
और जैसे नभ मे ही
उड़ा चला जाता है।

(मोहन राकेश द्वारा अनूदित 'शाकुन्तल' से)

(३) अलंकार—उपमा और उत्प्रेक्षा।

मकड़ी की भांति··· ·········पर बढ़ जाएं। (पृष्ठ ८१-८२)

शब्दार्थ—ललाट=मस्तक। त्रिपुण्ड=तिलक विशेष जिसमे ललाट आदि

में भस्म अथवा चन्दन की तीन आड़ी या अर्द्धचन्द्राकार रेखाएं बनाते हैं। निर्भय=निडर, बिना किसी डर के। अन्तर=हृदय। अनासक्ति=निर्लिप्त।

प्रसंग—मानव की मुक्ति हेतु युधिष्ठर द्रौपदी के माध्यम से यहाँ बतलाते हैं कि मानव को स्मृतियों के घेरे से मुक्त होना परमावश्यक है। इसी तथ्य का वर्णन करते हुए युधिष्ठर कहते हैं—

व्याख्या—इस मृत संसार की स्मृतियों को मस्तिष्क में बनाए रखने से क्या लाभ है ? मानव उनमें उसी प्रकार फंस जाता है जैसे मकड़ी अपने चारों ओर जाला तैयार करती रहती है और फिर उसी मे फंस जाती है अर्थात् उस जाले से बाहर वह नहीं निकल पाती है। स्मृतियाँ वह भस्म भी नहीं हैं जो ललाट पर त्रिपुण्ड का चिह्न बन सके। हिमालय के इस श्वेत से श्वेत देवालय में किसी के संसार की भी स्वीकृति नहीं है। यह तो अपने में ही परिपूर्ण है। यह हमारे लिए यथार्थ रूप में विनष्ट हो गया है अतः उसे स्मृति-पटल से भी सदैव के लिए हटा देना चाहिए और जब कोई स्मृति ही नहीं रहेगी तो किसी प्रकार का भाव भी नहीं रहेगा।

हे प्रिये ! वास्तविक संसार की वस्तुओं के पीछे रह जाने पर फिर उसके रंग, रूप, गंध का प्रभाव भी मानव के मन से उतर जाता है, तभी उसके हृदय मे देवताओं की आत्मा—हिमालय की श्वेत-हिमवाली पवित्र देवभूमि जाग्रत होती है। जब व्यक्ति निडर होता है तो वह हिमालय सदृश बन जाता है और विश्व से निर्लिप्त एवं अलगाव ही तो स्वर्ग है और यही हिमालय की आत्मा है।

हे प्रिये, उठो ! ऐसा न हो कि तुम्हारे उठने से पूर्व ही तीव्र गति से सपाटे मारती हुई बर्फ की आंधियाँ और वृक्ष की पत्तियों के रूप में गिरने वाली श्वेत रंग वाली बर्फ तुम्हारे जाने वाले पतियों—युधिष्ठर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव—के पदों के चिह्नों को दबा दे और पति भी बिना बताए, अनजाने स्थान की ओर, किन्हीं अनजान पहाड़ी मार्गों से होकर अपनी यात्रा–गन्तव्य स्थान की ओर बढ़ जाएं।

विशेष—(१) प्रस्तुत अवतरण में कवि ने मानव-मुक्ति पर प्रकाश डाला है।

(२) मानव की मुक्ति सांसारिकता से दूर होकर ही संभव है—यही तथ्य यहाँ अभिव्यंजित है।

(३) अलंकार - दृष्टान्त एवं वक्रोक्ति ।

हिमांधियों के बीच················फेंक रही हूं । (पृष्ठ ८२-८३)

शब्दार्थ—वाणी=स्वर; आवाज । पाश=बन्धन । पाषाण=पत्थर । कृतसंकल्प=दृढ़ निश्चयी । व्रणो=छेद, घाव ।

प्रसंग—दूर भोजपत्र के नीचे बैठी द्रौपदी को धर्मराज युधिष्ठर विगत जीवन की स्मृतियाँ त्याग सांसारिकता से मुक्त होने के लिए कहते हैं । प्रस्तुत अवतरण मे द्रौपदी प्रत्युत्तर मे कहती है—

व्याख्या—हे प्रिय युधिष्ठर ! इन हिम की आंधियों के मध्य तुम्हारी वाणी को मैं उसी प्रकार सुन रही हूं जैसे उड़ते हुए वस्त्र हो । हे धर्मराज ! मैं यह भली प्रकार से जान गई कि यहाँ पहुँचकर किसी के प्रति मोह और किसी के प्रति तर्क सभी बेकार हो गए हैं । मैं तुम्हारे निकट तक पहुँचना भी चाहती हूँ किंतु हे धर्मराज ! हिम का यह शीतल पाश प्रतिक्षण मुझे भी अपने जैसा ही पाषाण बनाने के लिए दृढ़ निश्चय किए हुए है । ऐसा प्रतीत होता है कि जीवधारी मानव इसी प्रकार वृक्ष के समान जड़ हो जाता होगा ।

हिम निरन्तर वृक्षो के पत्तो मे छेद करती जा रही है । यह हिम अत्यन्त ही तेजधार वाली है और यह हिमानी शीतलता वृक्षों के पत्तों में छेद करने के समान ही शरीर के टुकड़े-टुकड़े किए दे रही है । यह लो मै अपने अन्दर जलने वाली प्रतिशोध वाली आग की गुफा की चाबी इस अन्धकार में सदा के लिए फेंक रही हूँ अर्थात् विगत की स्मृतियों को सदा के लिए त्यागकर मै अपने अन्दर जलने वाली प्रतिशोध की अग्नि को सदा-सदा के लिए प्रशमित कर रही हूँ ।

विशेष—(१) हिम की तीव्रता का वर्णन यहाँ हुआ है ।

(२) वर्णन में सजीवता है ।

सुनो, तुमने उसकी ·······अप्राप्य हो जाती है । (पृष्ठ ८३-८५)

शब्दार्थ—अन्तर्व्यक्तित्व=आन्तरिक भाव । जकड़ता=बन्धन । अप्राप्त=जो पुनः न मिल सके ।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण मे द्रौपदी युधिष्ठर के प्रति अपनी आन्तरिक भावनाओ की अभिव्यक्ति करती है ।

व्याख्या—द्रौपदी युधिष्ठर को सम्बोधित करती हुई कहती है—हे धर्मराज युधिष्ठर ! मैने अपने अन्दर जलने वाली प्रतिशोध वाली आग की गुफा की

चाबी इस अन्धकार में सदा के लिए फेंक दी है, क्या आपने उस चाबी के फेंकने अथवा गिरने की आवाज को सुना है ? सम्भवतः तुमने उसकी आवाज को नही सुना है। वास्तविकता यह है कि उसकी आवाज तो मैंने भी नहीं सुनी है। मैंने जीवन में न जाने कितने संकल्प उठाए किंतु वे सभी संकल्प व्यर्थ गए, बेकार हो गए। जिस प्रकार से मेरे अन्य संकल्प व्यर्थ गए उसी प्रकार मेरा यह अन्तिम संकल्प भी बेकार गया अर्थात् अपने को. अपने अन्तर की बातों को भूलने का प्रयास भी बेकार हो गया। वास्तव मे, अपने अन्तर्व्यक्तित्व को भूल पाना अत्यन्त कठिन कार्य है। समय के अन्तराल में अपने व्यक्तित्व के आवश्यक अग को त्याग देना बहुत ही कठिन कार्य है किंतु अपने प्राणरक्षक तत्वो तक को कर्ण ने दान में दे दिया। यह सच है कि सभी व्यक्ति कर्ण की भाति दृढ निश्चयी नही होते, महादानी नही होते। कर्ण को यह भलीभांति ज्ञात था कि कवच और कुण्डल उसके प्राण है, जीवन के एकमात्र रक्षक हैं किंतु अपने दान के सकल्प को रखने के लिए उसने उनका दान कर दिया और अपने संकल्प की रक्षा की।

आगे द्रौपदी अर्जुन को पुकारती हुई कहती है--हे पार्थ ! शीघ्र आओ और मुझे इस क्षण-प्रतिक्षण सिकुड़ती हुई कवच के समान निर्मम और कठोर हिम की जकड़ता से—जबरदस्त पकड़ से विमुक्त कराओ। एक दिन स्वयंवर में मत्स्य का भेदन करके तुमने मुझे पाया था। क्या तुमने मुझे इसीलिए पाया था—मुझे अपनी पत्नी बनाया था कि मैं इस हिम में तिल-तिल कर गल जाऊँ और अपने अस्तित्व को सदा-सदा के लिए मिटा दूं, इस हिम में समाकर अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दूं ? आखिर तुम मेरी यह हिम-परीक्षा क्यों लेना चाहते हो ? क्या तुम्हें मुझ पर विश्वास नही रह गया है ? यह ध्यान रखो कि पत्नी के प्रति अविश्वास भाव रखने से तुम्हें कुछ भी तो प्राप्त होने वाला नहीं है। श्रीराम ने भी सीता के सच्चे प्रेम की विश्वसनीयता को जानने के लिए अग्नि परीक्षा ली थी किंतु इससे राम को क्या प्राप्त हुआ, सीता जी धरती में समा गयी। तुम भी तो श्रीराम के समान ही मेरी भी हिम परीक्षा ले रहे हो-तुम अपनी कृष्णा के प्रेम की परीक्षा ले रहे हो। किन्तु हे अर्जुन ! इस प्रकार की परीक्षाओं में पत्नी के प्रति अविश्वास की भावना का ही ज्ञान होता है और इस प्रकार की परीक्षाओं के बाद स्त्री हमेशा-हमेशा के लिए पुरुष के लिए अप्राप्य ही बन जाती है।

विशेष— (१) पत्नी के प्रति अविश्वास की भावना को यहाँ उभारा गया है।

(२) 'मत्स्य-भेदन' से द्रौपदी के स्वयंवर की ओर संकेत किया गया है।

(३) सीता की अग्नि-परीक्षा के माध्यम से कवि ने उत्तरकाण्ड की घटनाओ की ओर इंगित किया है।

तुम भीष्म के लिए·········· ···काट रहा है। (पृष्ठ ८५-८६)

शब्दार्थ— भेदन=भेद कर, छेद कर। वेध=काटना। यज्ञाश्व=यज्ञ का घोड़ा। आर्त प्रिया=दु:खी प्रियतमा। माद्री पुत्र=नकुल और सहदेव। अभेद्य=जिसका भेद न किया जा सके।

प्रसंग—द्रौपदी दूर भोजपत्र के वृक्ष के नीचे बैठी हिम मे गल रही थी। इसे वह अपनी हिम परीक्षा मानती है और अर्जुन को हिम-बधन को काटने मे असमर्थ पाती है। इसी ओर संकेत करती हुई वह अर्जुन को लक्ष्य कर कहती है :

व्याख्या—हे अर्जुन ! तुम भीष्म पितामह के लिए अपने वाण से पाताल को भेद कर पानी निकाल सकते थे किंतु अपनी प्रियतमा द्रौपदी के इस हिम-पाश को काटने मे तुम असमर्थ हो, तुम अपनी द्रौपदी को हिम के वन्धन से विमुक्त नही कर सकते। तुम मे इतनी शक्ति थी कि यदि कोई अश्वमेध यज्ञ मे छोड़े गए अश्व को रोक लेता तो तुम उसको ही नही, अपितु समस्त ससार को अपने हाथो मे गाण्डीव धारण कर चुनौती दे देते थे—तुम्हारा गाण्डीव धनुष सम्पूर्ण विश्व को ललकारता था, उस समय किसी मे तुम्हारा मुकावला करने का साहस नही था किंतु आज तुम अपनी दु:खी प्रियतमा का हिम-पाश काटने मे सर्वथा असमर्थ हो रहे हो ?

द्रौपदी धर्मराज युधिष्ठर को सम्बोधित कर कहती है—हे धर्मराज युधिष्ठर! मेरा नारीत्व और मेरा मातृत्व आज सब व्यर्थ हो गए है। भीम, अर्जुन और माद्री पुत्र नकुल एव सहदेव भी मेरी सहायता एव रक्षा में असमर्थ रहे हैं। सब कुछ व्यर्थ हो गया है। तुम लोगो के साथ अन्तिम यात्रा करते हुए भी बीच में ही साथ छूट रहा है। हिम का यह अभेद्य एवं कठोर शीतलता हमारी और तुम्हारी सहयात्रा के बीच बाधक वन गया है और वरवस एक-दूसरे से पृथक किए दे रहा है। हमारी यात्रा के—सहयात्रा के—सूत्रों को काट रहा है।

विशेष—(१) भीष्म पितामह के मृत्यु-शैय्या पर पड़े होने पर अर्जुन ने

अपने बाण से पृथ्वी से पानी निकालकर पिलाया था—यहाँ कवि ने इसी घटना की ओर सकेत किया है।

(२) अर्जुन ने ही राजसूय यज्ञ के घोड़े की रक्षा अपने गाण्डीव से की थी।

(३) वर्णन प्रभावशाली रूप मे हुआ है।

आज के पूर्व तक..............दिया गया हो। (पृष्ठ ८६-८७)

शब्दार्थ—प्रपात=निर्झर; झरना। हतभाग्यता=भाग्यहीनता। देह=शरीर। कूटनीतियों=छल और कपट से पूर्ण नीतियाँ। स्वाहा=नष्ट हो जाना, समाप्त हो जाना। महाप्रस्थान=जीवन की अन्तिम यात्रा। प्रताड़िता=दुःखों को सहने वाली, डरी हुई। यज्ञयूप=वह खूटा जिससे यज्ञ का बलि-पशु बांधा जाता था।

प्रसंग—हिमालय के उच्च शिखर पर महाप्रस्थान के समय द्रौपदी पाण्डवों के पास तक न आ पाने का कारण बतलाती है। उसका मन खिन्नताओं से भरा है और अब वह एक निरीह प्राणी है। इसी ओर इंगित करती हुई वह कहती है--

व्याख्या—उसे इस बात का आज ही ज्ञान हुआ है कि अन्धकार भी हिम पर से उसी प्रकार फिसलता है और शब्द करता है जिस प्रकार झरनों का जल निरन्तर आगे बढता जाता है, तेजी से रपटता हुआ दृष्टिगत होता है और साथ ही कोलाहल भी करता जाता है। हे युधिष्ठर! तुमने मुझे जो आदेश दिया था कि मैं विगत जीवन की कठिनाइयों और विपत्तियों को विस्मृत कर दूं, स्मृतियों का त्याग कर उनसे विमुक्त हो जाऊँ—वह सब व्यर्थ ही गया—वह तुम्हारा आदेश किसी देवदारु या भोजपत्र के वृक्ष मे अटक कर उड़ रहा होगा। कहने का अभिप्राय यह है कि मैं आपका आदेश पालन करने में सर्वथा असमर्थ रही हूँ। हे महाराज! मैं अपनी इस भाग्यहीनता के सम्बन्ध में क्या कहूँ। विगत और उसमें भोगी गई विपत्तियों को विस्मृत करना मेरे लिए सर्वथा असम्भव है। मैं शरीर से तो तुम्हारे साथ ही चलती चली जा रही हूँ किन्तु मेरा मन अब भी विगत को भूल पाने में अपने को असहाय अनुभव कर रहा है—मेरा मन युद्ध की विभीषिकाओं, हत्याओं, चीत्कारो, षड्यन्त्रों और छल-कपट की नीतियों का वैभव समझने वाले चक्रों में पीछे पड़ा रहा अर्थात् इन सब पर विचार करता रहा। मैं सदैव सांसारिक बातों में अपने को आबद्ध किए रही। हे

महाराज ! आप ही बतलाएं कि स्त्री इस सांसारिकता से ऊपर क्यों नही उठ पाती हैं, वह अपने को सांसारिकता मे ही क्यो उलझाए रखना चाहती है ? मैंने इस सासारिकता के निर्वाह के लिए अपनी सन्तानों, बन्धुओ, बाधवो, कुल-कुटुम्बियो को स्वाहा होते देखा, उन्हे स्वाहा हो जाने दिया और आज जब स्वर्गारोहण का समय आया तो अपने पतियो को खोकर आज दु.ख की मारी होकर अकेली हो रही हूँ। इस समय मेरा सपूर्ण जीवन यज्ञ-यूप की भांति हो गया है अर्थात् जिस प्रकार यज्ञ करते समय खूटे से बलि-पशु को बाध दिया जाता है, और यज्ञाहुति के समय पशु को बलि चढ़ा दिया जाता है, यज्ञ का सब कार्य पूर्ण हो जाता है और मात्र खूटे को गड़ा हुआ छोड़ दिया जाता है, उस समय वह खूटा उपेक्षित जान पड़ता है ठीक उसी प्रकार मेरी स्थिति भी उस यज्ञ के उपेक्षित खूटे की भाति है।

विशेष—(१) पुरुष की अपेक्षा स्त्री सासारिकता की ओर अधिक झुकी रहती है, उसी तथ्य की ओर कवि ने यहां सकेत किया है।

(२) द्रौपदी अपने को 'यज्ञयूप' कहकर प्रकारान्तर से अपनी दयनीय स्थिति की ओर सकेत करती है।

(३) अलंकार—उपमा, उदाहरण, उत्प्रेक्षा।

कौन ? कानों के इतने ·· ···कोई विगत होगे। (पृष्ठ ८७-८८)

शब्दार्थ—महापथ=स्वर्ग का मार्ग। अगत्या=सहसा, अन्त मे। अट्टहास=ठहाका मारकर हसना।

प्रसंग—द्रौपदी महाराज युधिष्ठर को अपने जीवन की विडम्बना के सबध मे बतला रही है। उसे सहसा अनुभव होता है कि कोई उसके कानो के पास बोल रहा है। इसी की ओर सकेत करती हुई वह कहती है :

व्याख्या—यह मेरे कानो के पास कौन है ? ये गर्म-गर्म श्वासे किसकी है ? हे पार्थ ! क्या तुम हो ? हे धर्मराज युधिष्ठर, क्या तुम्हारी ही ये गर्म नि.श्वासे है ? क्या तुम्हे इस समय द्रौपदी से मोह उत्पन्न हो गया है जिसके परिणामस्वरूप तुम महापथ से वापिस लौट आए हो ? क्या सासारिकता का आकर्षण तुममें अब भी नि.शेष रह गया है ? सहसा ही मेरे कारण तुमने अपने धर्म का परित्याग क्यो कर दिया है, धर्म से इस प्रकार विरत क्यो हो रहे हो ? अरे ! तुम इतने जोर से अट्टहास क्यों कर रहे हो ? हे अर्जुन ! हिम ...नवरत रूप से गिर रही है जो आखो पर जम जाती है और जिसके कारण

कुछ भी नही दिखाई पड़ रहा है। लेकिन ! लेकिन मुझे विश्वास है कि यह हंसी ! यह अट्टहास ! तुम्हारी नहीं हो सकती, तुम्हारी कदापि नहीं हो सकती ? फिर तुम कौन हो जो इस प्रकार का व्यवहार कर रहे हो, तुम बोलते क्यों नही हो ? निश्चय ही, तुम वर्तमान मे जीवित व्यक्ति नही हो, मुझे तो तुम विगत काल के जान पड़ते हो ?

विशेष—(१) द्रौपदी की मानसिक स्थिति का सुन्दर निदर्शन यहाँ हुआ है।

(२) **अलंकार**—पुनरुक्तिप्रकाश।

न मैं वर्तमान हूं·······चिरंजीवी को यह भिक्षा। (पृष्ठ ८८-८९)

शब्दार्थ—चिरंजीवी=सदा जीवित रहने वाला। चीह्नती=पहचानती। अपूरित=विना भरे हुए। चिंदी=टुकड़ा। साम्राज्ञी=महारानी।

प्रसंग—द्रौपदी को जो आवाज सुनाई पड़ती है वह द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा की है। प्रस्तुत अवतरण में अश्वत्थामा की आवाज और द्रौपदी में परस्पर वार्तालाप वर्णित है। अश्वत्थामा का कथन है :

व्याख्या—हे द्रौपदी ! न तो मैं वर्तमान में जीवित रहने वाला हूँ और न ही मैं विगत हूँ, बीता हुआ हूँ, मैं तो चिरंजीवी हूँ। युग-युग तक जीवन धारण करने वाला हूँ। क्या तुम मुझे नही पहचानती हो ! श्रीकृष्ण ने मुझे अभिशाप दिया था कि मैं कोढी होकर अमरता को प्राप्त करूँ। क्या तुम अमरता प्राप्त कोढी अश्वत्थामा को पहचानने में असमर्थ हो ? जरा ध्यानपूर्वक देखो, तो मुझे भली प्रकार पहचान जाओगी।

इस पर द्रौपदी अश्वत्थामा की आवाज को पहचानकर आश्चर्यपूर्वक कह उठती है—क्या अश्वत्थामा तुम हो ? अश्वत्थामा तुम हो !

द्रौपदी के आश्चर्यपूर्ण शब्दों को सुनकर अश्वत्थामा कहता है—हाँ, द्रौपदी ! मैं ही हूँ। जहाँ कही शून्य है वही अश्वत्थामा है। कारण, उसे जीवन में कुछ नही मिला है। हे द्रौपदी ! तुम्हारे ही कृष्ण ने मुझको अमरता का अभिशाप दिया हुआ है जिसके कारण मैं अपने सिर मे हुए घाव को, जो अभी तक अपूरित ही रहा है और जो युद्ध के फलस्वरूप हुआ है, भरने के लिए, उसकी मरहमपट्टी करने के लिए वस्त्र और तेल मांगता फिरता हूं। मात्र इतना ही नही, मैं एकाकी यात्री के समान निर्जन जंगलो और एकान्त स्थानों में घूमता रहता हूँ और आज वही अभिशप्त अश्वत्थामा कूबड़ का शाप

ढोता हुआ घाव की मरहमपट्टी हेतु महारानी द्रौपदी से कपड़े का एक टुकडा मांगता है। हे साम्राज्ञी ! क्या तुम इस चिरंजीवी अश्वत्थामा को यह भिक्षा नहीं दोगी ? मुझे विश्वास है कि तुम मेरी यह अभिलाषा निश्चय ही पूरी करोगी।

विशेष—(१) प्रस्तुत अवतरण मे कवि ने कृष्ण के द्वारा अश्वत्थामा को दिए गए आर्शीर्वाद की ओर सकेत किया है।

(२) कथन को अलकारो के बोझ से मुक्त रखा गया है।

(३) सस्कृत शब्दावली का सुष्ठु प्रयोग हुआ है।

आसक्त एकाकीपन ही······· और कुछ नहीं है। (पृष्ठ ८६-६०)

शब्दार्थ—आसक्त=लगाव, आसक्ति। मेधावी=बुद्धिमान। संदर्भ=प्रसंग, वातावरण एव घटना। निरीह=भोलाभाला, अकेला, वेचारा। रक्तस्त्रावित=वहता हुआ खून।

प्रसंग—अभिशप्त अश्वत्थामा परेशान है, ऐसा आभास द्रौपदी को होता है। वह (अश्वत्थामा) द्रौपदी से युद्ध मे घायल शरीर के घाव को ढँकने के लिए एक टुकडा कपड़े का मागता है। इस पर द्रौपदी अश्वत्थामा को सम्बोधित कर कहती है—

व्याख्या—हे अश्वत्थामा ! जब हम अपने बन्धु-बांधवो के प्रति आसक्त रहकर भी अकेले रह जाते है तो यह अकेलापन ही हमारे लिए अभिशाप बन जाता है, यह अकेलापन ही हमारे दु:ख का महाकारण बन जाता है और इसी को यदि तुम चाहो तो कोढ—मन का कोढ़—भी कह सकते हो। यह न जाने कैसी विषमता है? कैसा वैचित्र्य है ! कुछ समझ मे नही आता। आज हमारा जीवन इसी प्रकार की विषमताओ से युक्त है। आज न तो तुम युद्ध के अन्तिम दिन वाले मेधावी सेनापति ही रह गए हो और न मै ही राजसूय यज्ञ सम्पन्न करने वाले राजा की महारानी ! अर्थात् तुम्हारा और मेरा आज वह सम्मान नही रह गया है जो महाभारत के युद्ध के समय से पूर्व था। सब कुछ परिवर्तित जो हो गया है। हम तत्कालीन वातावरण और परिस्थितियो से—संदर्भ से सम्पूर्णतः कट गए है। जब तक हमारा परिस्थितियो और वातावरण से सम्बन्ध रहता है तभी तक हमारा मूल्य होता है किंतु उससे पृथक हो जाने पर हम अनजान घास की पत्ती की भाति निरीह और महत्वहीन हो जाते है। हे अश्वत्थामा ! हारे शरीर से घायल होने के कारण जो निरन्तर रक्त प्रवाहित हो रहा है,

जो अभिशप्तता का परिणाम है, उसे आच्छादित करने के लिए मेरे पास टूटती हुई अन्तिम सांसों के अतिरिक्त कुछ नहीं है। मुझ पर विश्वास करो, मेरे पास देने के लिए अंर कुछ भी नही है। मैं तो जीवन की अन्तिम श्वांसें ले रही हूँ।

विशेष—(१) प्रस्तुत अवतरण में कवि यह स्पष्ट करना चाहता है कि जीवन की संध्या के समय व्यक्ति के पास, चाहे वह राजा अथवा बलवान हो, कुछ भी शेष नही रह जाता है। जीवन के प्रारम्भ में जैसे वह खाली हाथ आता है, अन्तिम समय में सब कुछ छोड़कर वह खाली हाथ जाता है।

(२) भाषा अलंकारविहीन एवं भावों की अभिव्यक्ति में पूर्णतः सक्षम है।

सुदर्शन चक्र से भी·········· सर्प डसता भी है। (पृष्ठ ९०-९१)

शब्दार्थ--अभिशप्त=शापित। आकण्ठ=कंठ सहित, सपूर्ण रूप में। प्रवंचना=छल-कपट, धोखा। अक्षय=कभी न समाप्त होने वाला।

प्रसंग—द्रौपदी को अश्वत्थामा की आवाज सुनाई देती है जिसमें वह उससे अपने शरीर के घावों को ढाँपने के लिए वस्त्र का एक टुकडा मांगता है। द्रौपदी का कथन है कि टूटती अन्तिम श्वांसों के अतिरिक्त देने के लिए उसके पास और कुछ भी नही है। इस पर अश्वत्थामा श्रीकृष्ण द्वारा शापित होने की बात कहता है·

व्याख्या–श्रीकृष्ण ने मुझे जो अमरता का अभिशाप दिया था, हे द्रौपदी! उस शाप के कारण मैं आकण्ठ—संपूर्ण रूप से—विदग्ध हो रहा हूँ। श्रीकृष्ण के द्वारा दिया गया अमरता का वह अभिशाप तो उनके सुदर्शन चक्र की अपेक्षा कहीं अधिक तीव्र, प्रभावकारी और अभिशप्त है। हे द्रौपदी! मेरे पास एक ही मणि थी जिसे धोखे से श्रीकृष्ण ने तुम्हें दिलवा दिया था अतः वह मणि मुझे वापिस लौटा दो। तुम्हारा राजकोष तो कभी समाप्त होने वाला नही है और उसमें इस प्रकार की असंख्य मणियाँ निश्चय ही होगी, फिर, एक ब्राह्मण की मणि को लेकर तुम्हारा क्या भला होगा। और संभवतः तुम यह भलीभांति नहीं जानती कि जब सर्प से उसकी मणि छीन ली जाती है, जो उसके जीवन का सर्वस्व एवं प्रकाशदात्री होती है, तो वह सर्प अंधा हो जाता है और तुम यह भी जानती हो कि सर्प डसता भी है। आज मेरी भी स्थिति मणि खोए सर्प की भांति हो रही है।

विशेष—(१) अश्वत्थामा—अश्वत्थामा के पिता का नाम द्रोण तथा माता का नाम कृपा था जो शरद्वान की लड़की थी। जन्म ग्रहण करते ही इनके कण्ठ से हिनहिनाने की-सी ध्वनि हुई जिससे इनका नाम अश्वत्थामा पड़ा। महाभारत युद्ध में ये कौरव पक्ष के एक सेनापति थे। एक बार रात में ये पाण्डवों के शिविर में गए और सोते में अपने पिता के हनन करने वाले धृष्ट-द्युम्न और शिखण्डी तथा पाण्डवों के पाँचों लड़कों को मार डाला। पुत्र-वियोग के कारण द्रौपदी विलाप करने लगी। इस पर क्षुब्ध हो अश्वत्थामा को अर्जुन ने चुनौती दी। अश्वत्थामा ने अर्जुन पर ऐषिकास्त्र से आक्रमण किया। अर्जुन ने प्रत्याक्रमण के लिए ब्रह्मशिरास्त्र उठाया, तब अश्वत्थामा भागे। व्यास नारद, युधिष्ठर आदि ने अर्जुन को अस्त्र प्रयोग करने से रोका। द्रौपदी ने इनकी मणि उतार लेने का सुझाव दिया। अतः अर्जुन ने इनकी मुकुट मणि लेकर प्राणदान दे दिया। अर्जुन ने वह मणि द्रौपदी को दे दी जिसे द्रौपदी ने युधिष्ठर के अधिकार में दे दिया। (साहित्यकोष-भाग २) युधिष्ठर ने इस मणि को अपने शीश पर धारण किया। अश्वत्थामा अमर कहे जाते हैं।

(२) 'अक्षय राजकोष' में व्यंग्य है कि अन्तिम समय में राजकोष भी साथ नहीं जाता है जिसकी अभिवृद्धि के लिए व्यक्ति ने जाने-अनजाने न जाने कितने अच्छे बुरे कार्य किए हैं।

(३) प्रकारान्तर से, मानव की मुक्ति की ओर भी संकेत किया गया है।

नहीं, नहीं अश्वत्थामा..........मुक्त हो जाने दो। (पृ० ६१)

शब्दार्थ—अकिंचन=दरिद्र, जिसके पास कुछ न हो। यातना=अति पीडा।

प्रसंग—अर्जुन द्वारा ली गयी अश्वत्थामा की मणि द्रौपदी को दे दी गई थी (जिसे बाद में द्रौपदी ने युधिष्ठर को दे दी थी और जिसे युधिष्ठर ने अपने शीश पर धारण कर लिया था) उस मणि को अश्वत्थामा जब द्रौपदी से वापिस मांगता है तो द्रौपदी प्रत्युत्तर में कहती है :

व्याख्या—हे अश्वत्थामा! मेरे पास तुम्हारे सिर की मणि नहीं है—इसका विश्वास करो और व्यर्थ में ही मेरा मजाक मत उड़ाओ। मैं तो एकदम अकिंचन हूं और मेरे पास कोई मणि नहीं है। हाँ, मेरे पास मेरे प्राणों की मणि अवश्य है, यदि तुम चाहो तो इसे ले सकते हो, यदि तुम्हें इसकी आवश्य-कता अनुभव हो। निश्चय ही, मेरे प्राणों की मणि लेकर मुझे इस हिम-यातना

से, जिसे सहन कर पाना मेरे लिए संभव नहीं हो पा रहा है, अवश्य ही मुक्त कर सकते हो। यह मेरे लिए निश्चय ही अत्युत्तम होगा।

विशेष—द्रौपदी की मानसिक यातना की अभिव्यजना हुई है।

यातना !! अग्नि की हो .... की यातना नहीं। (पृ० ६१-६२)

शब्दार्थ—यातना=कष्ट, अति पीड़ा। नि-स्वत्व=अपनेपन से अलग, सारहीन। पैशाचिकता=दुष्ट मनुष्य का दुष्टतापूर्ण कार्य।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण में द्रौपदी अश्वत्थामा से अपने प्राणों की मणि को देकर हिम-यातना को कम करने के लिए कहती है तो इस पर अश्वत्थामा उत्तर देता है :

व्याख्या—हे द्रौपदी ! तुम यातना की बातें करती हो ? यातना चाहे अग्नि की हो चाहे फिर हिम की—यातना ही होती है। कहने का अभिप्राय यह है कि अग्नि-प्रदत्त यातना अथवा हिम-प्रदत्त यातना में कोई मूलभूत अन्तर नहीं है। दोनों समान हैं। तुमने अर्जुन द्वारा मेरी मुकुट-मणि लेकर मुझे शक्तिविहीन कर दिया था, मेरे जीवन का एक प्रकार से समापन कर दिया था, किंतु विश्वास रखो मैं तुम्हारे प्राणों की मणि को किसी भी मूल्य पर नहीं लूंगा। तुम्हारे प्राणों की मणि ले लेने का एकमात्र अर्थ यही होगा कि तुम्हे सांसारिक कष्टों से सदा-सदा के लिए मुक्ति मिल जाए, और ऐसा मैं कदापि नहीं करूँगा—तुम्हे यातना मुक्त नहीं होने दूगा। तुमने अपने जीवन में जो कुछ भी किया है उसके फलस्वरूप यातनाएं मिलना और उन्हे सहन करना स्वाभाविक ही है। जब महाभारत का युद्ध समाप्त हो गया था और दुर्योधन की जघा पर प्रहार कर अन्तिम श्वासें गिनने पर विवश कर दिया गया था तब मैंने अर्द्धरात्रि को पाण्डवता को सदा-सदा के लिए निःशेष करने के लिए अपने को प्रस्तुत किया तो उससे बड़ी दुष्ट मनुष्य के दुष्ट कार्यों में कठोरता और उसकी यातना से बड़ी कोई यातना नहीं हो सकती। हे द्रौपदी ! मुझे तुम्हारी अथवा अन्य किसी की यातना नहीं लेनी है, किसी को मारना नहीं है, वरन् मुझे तो अपने शरीर के घाव को ठीक करने के लिए वस्त्र और तैल की आवश्यकता है, यदि यह तुम्हारे पास हो तो मुझे दे दो अन्यथा मैं यहाँ से जाता हूँ।

विशेष—(१) अश्वत्थामा द्वारा किए गए पाण्डवों को समूल नष्ट करने के प्रयास की ओर संकेत किया गया है।

(२) अश्वत्थामा के माध्यम से वास्तविक यातना को स्पष्ट किया गया है।

(३) अलंकार—रूपक।

चले गये तुम······· ······युधिष्ठर !! पार्थ !!! (पृ० ९२-९३)

शब्दार्थ—भ्रम=धोखा। कुष्ठ=रोग विशेष। हिम-नद=हिम की नदी। पार्थ=अर्जुन।

प्रसंग—द्रौपदी को ऐसा लगा कि अश्वत्थामा उससे अपनी मणि वापिस मांगकर उस पर व्यंग्य कर रहा है। उसे अब आभासित हुआ कि वह चला गया है अथवा यह सब कुछ उसका मात्र भ्रम था। इसी सन्देह को अभिव्यक्त कर वह कहती है:

व्याख्या—अश्वत्थामा ! क्या तुम चले गए ? मैं नहीं कह सकती कि क्या तुम मेरे सम्मुख सशरीर उपस्थित थे अथवा यह मेरा खाली भ्रम ही था। वास्तविकता क्या है, मैं ठीक-ठीक इसका अनुमान नहीं लगा सकती। यह ठीक है कि उस दिन जब अर्जुन ने तुम्हारे सिर की मणि को उतारकर मुझे दिया था तो मैंने अपने हाथों से उसका स्पर्श किया था और उस समय मैंने किसी प्रकार की जलन—आग की जलन—का अनुभव नहीं किया था अपितु इसके स्थान पर शीतलता का ही अनुभव किया हो किंतु वही मणि आज मेरे लिए कष्ट का कारण बनी हुई है। मुझे उस मणि को लेकर क्या प्राप्त हुआ ? और तुमको भी इस प्रकार मेरे स्मृति-पटल पर आकर क्या मिला ? हाँ, तुमने मेरे मन के धधकते कोढ़ को अवश्य जगा दिया है। हाँ, इस प्रकार तुम्हें और मुझे मिला तो कुछ भी नहीं किंतु इससे मेरे हृदय में दुःख की अग्नि निश्चय ही जल गई है और जिसमें मैं जली जा रही हूँ। द्रौपदी अर्जुन और युधिष्ठर को पुकार कर कहती है कि यह क्या हो गया ? मैं और भोजपत्र—दोनों ही फिसल रहे है अथवा हिम नदी मुझे और भोजपत्र के वृक्ष दोनों को ही बहाए लिए जा रही है। हे अर्जुन ! हे धर्मराज युधिष्ठर ! हे अर्जुन ! तुम शीघ्र ही आकर मेरे प्राणों की रक्षा करो, अन्यथा मेरा जीवन समाप्त हुआ जाता है।

विशेष—(१) मानव-मन के विकारों पर प्रकाश डाला गया है।

(२) प्रकृति और मानव की तादात्म्यता यहाँ अभिव्यक्त हुई है।

(३) द्रौपदी को अन्त में हिम-नदी में प्रवाहित दिखाया गया है।

(४) भाषा प्रवाहपूर्ण और अभिव्यक्ति में समक्ष है।

आया था ······· ······मिलती है, जाओ !! (पृष्ठ ९३-९४)

शब्दार्थ—एकाकी=अकेले। पाखी=पक्षी। आर्त्त स्वर=दुःख से युक्त आवाज। अनन्त=असंख्य। अवश=विवश। नगण्य=महत्वहीन, अत्यन्त न्यून। विद्युत=बिजली। विभाजित=बंटे हुए। वहन=धारण करके। सहचर=सदा साथ रहने वाले। हिम-समाधि=बर्फ मे ही अन्तिम विश्राम लेना है।

प्रसंग—द्रौपदी अर्जुन और युधिष्ठर को पुकारते-पुकारते हिम-नद में प्रवाहित हो जाती है, उसके जीवन की इहलीला समाप्त हो जाती है। अर्जुन द्रौपदी की आर्त्तवाणी सुनते रहे किंतु उसकी रक्षा करने मे असमर्थ रहे। इस पर अर्जुन अपन व्यक्तित्व की व्यर्थता सिद्ध करते हुए कहते है :

व्याख्या—जिस प्रकार से तीव्र झञ्झा के झोकों मे कोई एकाकी पक्षी अपने पखों को फड़फड़ाता हुआ रक्षा के लिए चीत्कार-सा करता जान पड़ता है उसी प्रकार आर्त्तवाणी मे मेरी प्रिया द्रौपदी भी हिम-नद से रक्षा करने हेतु मुझे पुकार रही थी। उसकी विवशतापूर्ण दैन्य स्वर को मैंने भलीभांति सुना था। उसकी वाणी मे वैसी ही तड़फड़ाहट थी जैसी कि आंधी में घिरे पक्षी के पंखों के फड़फड़ान मे निहित होती है। कुरुक्षेत्र के रण-स्थल मे लगातार अठारह दिनों तक भयकर युद्ध होता रहा, सर्वनाश की अनन्त चीत्कारें हुई किंतु उस समय भी मै गाण्डीव को धारण किए रहा, विवश नही हुआ, साहस नही खोया, मन मे किसी प्रकार की खिन्नता नही आई, वे प्राणघातक चीत्कारें मेरे गाण्डीव-धारी व्यक्तित्व को तनिक भी नहीं हिला सकी थी किंतु आज प्राणप्रिया द्रौपदी का आर्त्तस्वर मुझे आकुल-व्याकुल कर रहा है, लगता है मेरा व्यक्तित्व—गाण्डीवधारी व्यक्तित्व—सदा-सदा के लिए समाप्त हो गया है। प्रिया की आर्त्त पुकार मेरे व्यतित्व के भोजपत्र को विद्युत के समान चीरकर चली गयी है अर्थात् विद्युत जिस प्रकार भोजपत्र को चीर जाती है उसी प्रकार प्रिया द्रौपदी की पीड़ित आवाज मुझे व्यथित कर गई है। इस प्रकार आज मेरा व्यक्तित्व खण्डित हो गया है, विभाजित हो गया है, अधूरा रह गया है और इस खण्डित व्यक्तित्व को लेकर मै संसार में क्या करूँगा। इस शक्तिशाली गाण्डीव धनुष को धारण कर भी अब ससार में मै कौन-सा कार्य सिद्ध करूँगा। इस गाण्डीव नामधारी धनुप ने युधिष्ठर के साम्राज्य की रक्षा की थी किंतु आज यही शक्तिहीन होकर द्रौपदी के प्राणों की रक्षा करने मे सर्वथा असमर्थ रहा। अब

विशेष (१) लेखक ने यहां स्पष्ट किया है कि विभाजित व्यक्तित्व को यहां किसी प्रकार भी स्वीकार नहीं किया जा सकता।

(२) भाषा भावों को सम्प्रेषित करने में पूर्ण समर्थ है।

(३) अलंकार—अन्योक्ति।

बंधु ! क्या अर्थ...............क्यों नहीं किया। (पृष्ठ ६६-६७)

शब्दार्थ—हिम-यातना=बर्फीले कष्ट। आत्मवरण=आत्मवरण करना, अपने आप स्वीकार करना। मणि-मुकुट-धारण=मणियुक्त मुकुट को पहनना, वैभव का स्वामी बनना, राजा बनना। सुचारु=भली प्रकार से। स्वेद= पसीना। अर्जित=प्राप्त करना। विरक्ति=अलगाव।

प्रसंग—द्रौपदी द्वारा हिम-यातना सहन न किए जा सकने पर युधिष्ठर भीमसेन को बतलाते है कि द्रौपदी सांसारिकता थी, उसका व्यक्तित्व खण्डित था। परिणामतः यह धर्मपथ पर हिम-पथ को पार कर चलने मे सक्षम नही थी। धर्म खण्डित व्यक्ति को स्वीकार नही करता है तथा अब वहां द्रौपदी का कोई पता भी नही है। सब कुछ हिमालय होता जा रहा है। इस विषय को लेकर युधिष्ठर और भीमसेन मे वार्तालाप होता है, जो इस प्रकार है—

व्याख्या—भीमसेन युधिष्ठर से पूछते है—हे बंधु ! 'सब कुछ हिमालय होता जा रहा है'—इसका वास्तविक अर्थ क्या है ? युधिष्ठर पूछते है—किसका आशय तुम जानना चाहते हो ? भीम का कहना है कि मै हिम-यातना के इस आत्मवरण का आशय जानना चाहता हूँ। युधिष्ठर भीमसेन से प्रश्न करते है—उस मणि-मुकुट धारण करने का क्या कुछ अर्थ था ? हमने कौरवों से युद्ध किया ? क्या इसका भी कुछ अर्थ था ? भीमसेन का कहना है कि निश्चय ही मणि-मुकुट धारण करने और कौरवों से युद्ध करने का क्या अर्थ था ? एक अनिवार्य आवश्यकता थी, एक महत् उद्देश्य था। युधिष्ठर का कथन है कि स्पष्टतः बतलाओ मुकुट धारण करने और युद्ध करने में कौन-सा आशय अथवा स्वार्थ निहित था ? भीमसेन का कहना है कि कौरव दुष्ट प्रकृति के थे और उन्होंने हमारे अधिकारों का बलपूर्वक हनन् किया था ? युधिष्ठर का उत्तर था कि कौरव हम पाण्डवों के लिए तो दुष्ट और अत्याचारी थे किंतु प्रजा के लिए तो वह दुष्ट नही थे। वास्तविक झगड़ा तो उनका हमारे से था प्रजा से तो नहीं। भीमसेन का कथन था कि हम प्रजा को एक सुचारु एवं स्वच्छ प्रशासन देना चाहते थे जिसमें कौरव-पक्ष के व्यक्ति बाधक थे। धर्मराज

युधिष्ठर भीमसेन को बतलाते है—हे बंधु भीम ! तुम्हारा ऐसा कथन करना उचित ही है, लेकिन क्या हम उन्हें—प्रजा को—स्वच्छ प्रशासन देने में सक्षम और सफल रहे है ? क्या तुम्हारे कथन में मिथ्यात्व नहीं है ? क्या दुर्योधन में एक कुशल एवं सफल प्रशासक के गुण नहीं हैं ? मेरी दृष्टि में, निश्चय ही, दुर्योधन में एक सफल प्रशासक के सभी गुण विद्यमान हैं । युधिष्ठर के प्रश्न के उत्तर मे भीम का कहना है कि हे धर्मराज युधिष्ठर ! तब तो तुम्हारी दृष्टि में महाभारत का प्रलयकारी युद्ध एवं राजसूय-यज्ञ करना सभी कुछ बेकार था, इनका कोई भी महत्व नहीं था ? युधिष्ठर का कथन है कि ऐसा तो मैं नहीं कहता । निश्चय ही, इनका भी महत्व था । किन्तु वास्तविकता यह है कि युद्ध करने में, राज्य करने में अथवा किन्हीं अन्य विषयों में मेरी कोई रुचि नहीं रही है। इन सबके प्रति मेरे मन में किसी प्रकार का आकर्षण नही रहा है । खून और पसीने से अर्जित इस विशाल साम्राज्य के प्रति मेरे मन मे विरक्ति और अनासक्ति का जो भाव रहा है, उसके पीछे कुछ दूसरे ही कारण रहे हैं । भीम आश्चर्ययुक्त हो पूछते है—हे धर्मराज ! बतलाये ! वे कारण क्या थे जिसके परिणामस्वरूप युद्ध और राज्य-प्राप्ति से आप अनासक्त रहे है ? युधिष्ठर का कथन है—हे भीम ! यदि राज्य की प्राप्ति और वैभवपूर्ण जीवन व्यतीत करना ही मेरे जीवन का एकमात्र ध्येय होता तो मै पहले ही दिन धृतराष्ट्र को सिंहासन से हटाकर राजा बन सकता था । उस समय न्याय का पलड़ा भी भारी था जो मेरे पक्ष में था एवं बलशाली अर्जुन और भीम भी मेरे अनुगामी थे, जिन्होंने महाभारत के प्रलयकारी युद्ध में भी मेरा पूरा-पूरा साथ दिया था । इस पर भीम एकदम कह उठते हैं—जब ऐसी स्थिति थी तब आपने राज्य क्यों नही लिया, उसे छोड़ने के पीछे आपके कौन-से उद्देश्य थे ?

विशेष—(१) युधिष्ठर और भीम के चरित्रों पर प्रकाश डाला गया है ।
(२) अर्जुन और भीम की शारीरिक शक्ति की ओर संकेत है ।
(३) लघु संवादों के प्रयोग से काव्य मे नाटकीयता का समावेश हुआ है ।
(४) **अलंकार**—काकूवक्रोक्ति ।

भीम ! मैं राज्यान्वेषी............सहमत न होता । (पृष्ठ ९७)

शब्दार्थ—राज्यान्वेषी=राज्य-प्राप्ति की इच्छा करने वाला । मूल्यान्वेषी=जीवन-मूल्यों की खोज करने वाला; दया, उदारता, प्रेम आदि उदात्त

भावों का समर्थन। अपदार्थता=तुच्छ वस्तु। विराजे=बैठे हुए, उपस्थित, विद्यमान। अनन्तकाल=बहुत लम्बा समय। सहमत=तैयार।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण में धर्मराज युधिष्ठिर भीम के इस प्रश्न का—'फिर आपने राज्य क्यों नहीं ग्रहण किया ?' उत्तर देते हुए कहते है—

व्याख्या—हे भीम ! मैं कभी भी राज्य-प्राप्ति की ओर आकृष्ट नही था, मैं राजा बनना नही चाहता था। वास्तव में, मैं तो सदा जीवन के शाश्वत एवं चिरन्तन मूल्यों का—दया, उदारता, प्रेम आदि हृदय की उदात्त वृत्तियों का—पक्षधर रहा हूँ। राज्य को मैं सदा अपनी दृष्टि मे तुच्छ वस्तु ही समझता आया हूँ। और हे भीम ! तुम स्पष्ट समझ लो कि मैं इस तुच्छ राज्य की प्राप्ति के लिए अपने ही रक्त—अपने ही सगे-सम्बन्धी—दुर्योधन आदि कौरवों का नाश कदापि नही करता। राज्य प्राप्ति के लिए इतना भीषण नर-संहार करना और रक्तपात करना मेरे लिए निश्चय ही असंभव था, पूर्णतः असंभव था। मेरे लिए एक ऐसा व्यक्ति भी, जिसे कोई नहीं जानता, एक साम्राज्य से कही अधिक महत्वशाली है तो फिर मैं उस साम्राज्य के लिए इतना भीषण नर-संहार, और रक्तपात क्यों कराता। मैंने तो सदैव सभी मानवों में मानवीय गुणों से युक्त सद्कर्म करने वाले देवता की आकाक्षा-कामना की है। मेरा सदा यह विश्वास रहा है कि सभी प्राणियो मे मानवीय गुण विद्यमान रहते है—उनमे देव-प्रवृत्तियाँ सदा क्रियाशील रहती है। हाँ, यह हो सकता है कि मानव में सद्-प्रवृत्तियों के उदय होने में समय लग जाय और उसमे उन प्रवृत्तियों के उदय होने तक, उन वृत्तियों के जगने के लिए मैं एक सुदीर्घकाल तक प्रतीक्षा कर सकता हूँ। यदि मुझे यह विश्वास हो जाता है कि सौ वर्ष वनवास का समय व्यतीत हो जाने के पश्चात् भी कौरव हमारा अधिकार हमे सौप देंगे तो हे भीम ! मैं यह निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि मैं उनके विरुद्ध युद्ध करने के लिए कभी भी और किसी भी परिस्थिति में तत्पर न होता। कहने का भाव यह है कि यदि कौरवों मे तनिक भी जीवन-मूल्यों के प्रति आस्था होती तो मैं उनका आदर करता और युद्ध के लिए आह्वान न करता।

विशेष—(१) यहाँ राज्य को अपदार्थ कहकर भौतिक साधनों के स्थान पर मानवीय गुणों को अधिक महत्व दिया गया है।

(२) युधिष्ठर जीवन-मूल्यों मे आस्था रखने वाले विवेकशील प्राणी है—इस तथ्य की ओर सकेत किया गया है।

प्रत्येक समय वीरता ·········· मनुष्य होने की। (पृष्ठ ९८-९९)

शब्दार्थ शस्त्र=हथियार, बल। धूर्तता=दुष्टता, नीचता। अवगत=जानकार। क्लीवतावश=कायरता के कारण। आवेग=जोश। विवेक=उचित-अनुचित का निर्णय करने वाली बुद्धि।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण में धर्मराज युधिष्ठर भीम को बतलाते हैं कि यदि कौरव में जीवन के शाश्वत मूल्यों के प्रति तनिक भी आस्था होती तो वह युद्ध के लिए कदापि तत्पर नहीं होते। अपने कथन को अग्रसर करते हुए वह भीम को सम्बोधित कर कहते हैं—

व्याख्या—हे भीम! फिर ऐसा भी नहीं है कि वीरता-प्रदर्शन के लिए प्रत्येक समय हथियारों का ही प्रयोग किया जाए और फिर हथियारों द्वारा समझाने की भाषा ही तो संसार मे नहीं होती। इसके अतिरिक्त एक भाषा और भी होती है जिससे मानव को समझाया-बुझाया जा सकता है। क्या तुम समझते हो कि मैं शकुनि के साथ जुए के खेल मे उसकी बेईमानी और दुष्टता को भली प्रकार से नहीं समझता था? अर्थात् मैं उसकी धूर्तता से भलीभांति अवगत था। मैं यह भी जानता था कि धृतराष्ट्र मात्र आंखों से ही अंधे नहीं हैं अपितु वे विचारों से कुण्ठित प्राणी भी है। क्या तुम यह समझते हो कि दुर्योधन की भरी सभा में पाण्डवों के समक्ष दुःशासन के द्वारा जो चीरहरण किया गया था और जिसमें पाण्डव-पक्ष का घोर अपमान हुआ था, वह क्लीवता और कायरता के परिणामस्वरूप था? क्या मुझ में उस अन्याय, अत्याचार के प्रतिरोध करने की शक्ति नहीं थी? क्या यह सब कुछ मैंने जानबूझ कर किया था? नहीं भीम, ऐसी बात नहीं है। इस संबंध में मेरा विचार तो यह है कि यदि विरोधी पक्ष अपने अहम् एव शक्ति के आवेग मे पशु सदृश हो गया है तो अपने में विवेक बुद्धि के रहते हुए प्रतीक्षा करो कि उसके हृदय में मानवीय गुण जाग्रत हो सके। और यदि विरोधी पक्ष के हृदय में तुम अपने व्यवहार के द्वारा मानवीय गुणों को जगा सके, तो इससे बड़ी और विजय तुम्हारी क्या हो सकती है।

विशेष—(१) प्रस्तुत अवतरण मे कवि ने यह बतलाने की चेष्टा की है कि विवेक के रहते हुए व्यक्ति को विरोधियों के हृदय मे मानवीय भावों को जगाने में प्रयत्नशील रहना चाहिए।

(२) **शकुनि**—शकुनि सुबलराज का पुत्र, गांधारी का भाई और कौरवों

का मामा था। यह बड़ा दुष्ट था। इसे दुर्योधन ने अपना मंत्री बना रखा था। पाण्डवों को इसने बड़ा कष्टित किया और अन्ततः अपने पुत्र सहित सहदेव के हाथ से मारा गया। कहा जाता है कि किसी का कुछ ऐसा शाप था कि भीम जो भी खायेंगे उसका पाखाना शकुनि को होना पड़ेगा। इसके कारण भीम को परेशान करने के बहुत से मौके मिलते थे और वे करते थे। इसी आधार पर हिन्दी मे एक लोकोक्ति है—खाय भीम पाखाना हो शकुनी।

(३) धृतराष्ट्र का विचारों मे अंधे होने का आशय है उनमें विवेक का कम होना और दूसरो के कहने मे आकर उलटे-सीधे कार्यों को अनुमति देना।

करुणा मेरा धर्म········ · · ··· सकता हूं भीम।

शब्दार्थ—करुणा=दया। अस्वीकार=किसी वस्तु को लेने से इन्कार कर देना।

प्रसंग—युधिष्ठर करुणाप्रिय व्यक्ति रहे है। उनका कहना है कि यदि विरोधी पक्ष अपने अहम् एवं शक्ति के आवेग-आवेश मे पशु सदृश हो गया है तो अपने मे विवेक-बुद्धि रहते हुए प्रतीक्षा करो कि उसके हृदय मे मानवीय गुण जाग्रत हो सके। इसी भाव को व्यक्त करते हुए वह भीम से कहते है—

व्याख्या—हे भीम! दीन-हीन प्राणियो के दु:खो को देखकर उनके प्रति मेरे हृदय मे करुणा का भाव सहज रूप मे ही जाग्रत हो जाता है। यह मैं अपना धर्म मानता हूँ। दूसरे शब्दों मे, मानव-मात्र के प्रति स्वाभाविक करुणा दिखाना मेरा जीवन का उद्देश्य है। किसी भी संबंध, साम्राज्य अथवा शक्ति के समक्ष मेरे लिए करुणा प्रदर्शित करना कही अधिक शक्तिशाली और मूल्यवान है। मैं इसका परित्याग किसी भी स्थिति मे नही कर सकता अथवा मेरी विचारधारा सदा करुणा से अनुप्रेरित रहेगी। हे भीम! तुम मेरी बात का विश्वास करो कि धर्म मेरे लिए सर्वोपरि है, इसके लिए मैं बड़े से बड़े सुख का परित्याग करने को तत्पर हूँ, स्वर्ग का भी त्याग कर सकता हूँ। कहने का एकमात्र आशय यह है कि धर्म के समक्ष मेरी दृष्टि में अन्य किसी भाव, विचार अथवा क्रिया का महत्व नही है।

विशेष—(१) युधिष्ठर के चरित्र पर प्रकाश डाला गया है।

(२) कवि ने धर्म और करुणा को जीवन मे सर्वोपरि महत्व दिया है।

(३) भाषा प्रवाहपूर्ण एवं भावाभिव्यक्ति में सक्षम है।

एक तात्कालिक धर्म........निर्वेद की भूमि है। (पृष्ठ ९९-१००)

शब्दार्थ तात्कालिक=उसी समय के लिए। अनासक्त=विषय-वासना आदि के प्रति विरक्ति भाव रखने वाला, विना लाग-लपेट के। सालती= कष्ट देना, कचोटना। आच्छादित=घेरना, ढँकना, आपूरित करना। निर्वेद= शम, वैराग्य-भावना।

प्रसंग—युधिष्ठर धर्म और करुणा को जीवन मे सर्वोपरि महत्व देते हैं। इसी के द्वारा ही शत्रुओं का हृदय-परिवर्तन संभव होता है। इसके सम्मुख वे स्वर्ग का परित्याग करने को भी तत्पर हैं। भीमसेन का युधिष्ठर के प्रति कथन है कि जब आपकी राज्य एवं ऐश्वर्य-विलास के प्रति विरक्ति है तो फिर महाभारत जैसा भयंकर युद्ध किस कारण से किया गया? भीमसेन के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए युधिष्ठर कहते हैं—

व्याख्या—हे भीम! महाभारत जैसे भयानक युद्ध करने और उसमें प्रवृत्त होने के कारण पृथक है। अधिकार के साथ-साथ मनुष्य का कुछ कर्त्तव्य भी होता है और यही कर्त्तव्य-भावना परिस्थितियों के परिणामस्वरूप तात्कालिक धर्म में परिणत हो जाती है। और जब युद्ध कर्त्तव्य का रूप धारण कर लेता है तब अनासक्त भाव से युक्त होकर वह भी लडना पड़ता है। यही कारण है कि जब मैंने यह अनुभव किया कि युद्ध होना अनिवार्य है, उसे किसी भी प्रकार से टाला नही जा सकता तो मोह त्याग कर विना किसी लाग-लपेट के उसे भी लड़ा। महाभारत के उस भयंकर युद्ध में जो घटनाएं घटित हुईं, जो व्यापक दुर्घटनाएं हुईं, जो विनाश-कार्य हुआ—वह सब मुझे भली प्रकार याद है, मैं उसे अभी तक नही भूल सका हूँ किन्तु ये सब घटनाएं और विनाश-कार्य मुझे कचोटते नही है, मैं इनसे तनिक भी दुःखी नही हुआ हूँ; यह मुझे घेरती भी नही है और यही वह स्थिति है जहाँ मानव में निर्वेद की भावना—अनासक्ति का भाव—जाग्रत होती है और यही निर्वेद की स्थिति मुझे प्राप्त हो गई है।

विशेष--(१) 'कर्त्तव्य पूर्ण करने हेतु युद्ध भी अनिवार्य है'—कवि ने इस तथ्य की ओर यहाँ स्पष्ट संकेत किया है।

(२) निर्वेद की भावभूमि तक पहुँचने के लिए पूर्वाग्रहों से विमुक्त होना आवश्यक है।

(३) भाषा भावाभिव्यक्ति में पूर्णतः सक्षम है।

भीम ! दोनों ही पक्षों............ गल रहा हूँ। (पृष्ठ १००)

शब्दार्थ–पराजित= हारना। वरण=वरना; स्वीकार करना। गलना= यहाँ नष्ट होने से अभिप्राय है।

प्रसंग—महाराज युधिष्ठर भीमसेन को बतलाते हैं कि दुर्योधन के अत्याचार-अनाचार दिन-अनुदिन बढ़ते जा रहे थे जिनसे मुक्ति पाने का उपाय युद्ध के अतिरिक्त कुछ नही रह गया था—अतः उन परिस्थितियो मे युद्ध करना मेरे लिए कर्त्तव्य हो गया था किन्तु मैंने महाभारत के उस भयानक युद्ध को भी अनासक्त-भाव से ही लड़ा था। अपने कथन को अग्रसर करते हुए महाराज युधिष्ठर भीमसेन को बतलाते हैं—

व्याख्या—हे भीम ! मुझे लगता है जैसे युद्ध में दोनो ही पक्षों में मैं ही लड़ रहा था। एक ओर पाण्डव-पक्ष के रूप मे मैं युद्ध में विजयी हुआ तो दूसरी ओर कौरव-पक्ष के रूप में मै पराजित रहा। एक ओर दुर्योधन के रूप में मैंने स्वय ही मृत्यु का वरण किया और दूसरी ओर युधिष्ठर के रूप में विजय को गले लगाया। और आज मैं विजयी युधिष्ठर युद्ध मे विजय प्राप्त करने के बावजूद भी पश्चाताप करता हुआ हिम मे अपने आपको गला रहा हूँ, नष्ट कर रहा हूँ। कहने का अभिप्राय यह है कि वास्तव मे मैं महाभारत के विश्व-विख्यात युद्ध मे विजयी रहा हूँ किन्तु मै ऐसा मानता हूं कि इस युद्ध मे जो भीषण नर-संहार हुआ है, वह मेरे ही कारण है, उसके लिए मैं ही उत्तरदायी हूँ। यदि मैं चाहता तो उस युद्ध को रोक सकता था किन्तु मैंने ऐसा नही किया। कारण, मूल्यान्वेषी होते हुए भी तत्सम्बन्धी युद्ध को रोकना मेरे लिए कदापि संभव नही था।

विशेष—(१) मानव होने के लिए यहाँ सम की स्थिति की आवश्यकता पर बल दिया गया है।

(२) कवि ने यहाँ युधिष्ठर को धर्मराज के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है।

(३) कवि अपने काव्य के उद्देश्य—मानव के शाश्वत मूल्यो की स्थापना—की ओर अग्रसरित है।

वो देखो भीम .... **इसके बाद ? ? (पृष्ठ १००-१०१)**

शब्दार्थ—हठात्=अचानक। नितान्त=बिल्कुल। अनुजों=छोटे भाइयो।

प्रसंग—धर्मराज युधिष्ठर अनासक्त भाव से युक्त है। उनके रहते हुए ही

द्रौपदी हिम नद में प्रवाहित हो गई और अब सहसा उनके सम्मुख ही नकुल और सहदेव—युधिष्ठर के दोनों छोटे भाई हिम में समाते जा रहे हैं। इसकी ओर लक्ष्य करते हुए युधिष्ठर भीम को सम्बोधित कर कहते हैं—

व्याख्या—हे भीम ! वह देखो, मेरे दोनों अनुज–नकुल और सहदेव–कच्ची हिम मे सहसा समा गए है । उनको समाते हुए देखकर ऐसा लगता है जैसे वह हिम पर नही चल रहे थे वरन् जल पर चल रहे थे। हे भीम ! इन दोनों छोटे भाइयों का अन्त एकदम अविश्वसनीय रूप में हुआ है। इनका अंत इस प्रकार होगा – हिम में ये दोनों समाधि ले लेंगे—इसकी मैंने कभी भी कल्पना नहीं की थी। नकुल और सहदेव तो इस पाण्डवता के स्वरूप और ज्ञान के साकार रूप थे अर्थात् इनमें पाण्डवों का स्वरूप और उनकी ज्ञान-गरिमा को भली-प्रकार देखा जा सकता था । यह पाण्डवता एक पीपल के वृक्ष के सदृश है और पाण्डव उसके पत्ते। मैं देख रहा हूं कि पाण्डवता रूपी पीपल के पत्ते क्रमश: एक-एक करके झरते जा रहे है। द्रौपदी चली गयी और अब मेरे देखते ही देखते नकुल और सहदेव ने हिम मे समाधि ले ली। द्रौपदी के रूप में यदि सांसारिकता चली गयी तो अब नकुल और सहदेव के रूप में स्वरूप और ज्ञान चला गया है। और इसके बाद कौन जाएगा, क्या नष्ट होगा ? मैं यह निश्चयपूर्वक अभी नही कह सकता । हाँ, इतना अवश्य है कि इन तीनों को जाते देखकर, नष्ट होते देखकर, मुझे यह अवश्य आभासित होने लगा है कि अब हमारा अन्त भी अत्यन्त समीप है ।

विशेष—(१) प्रस्तुत अवतरण में कवि ने पाण्डवों के अन्त की ओर स्पष्ट सकेत किया है ।

(२) अलंकार—यथाक्रम, सांगरूपक और रूपकातिशयोक्ति ।

बंधु ! व्यक्ति के पुरुषार्थ ········सार्थकता नहीं । (पृष्ठ १०१)

शब्दार्थ—पुरुषार्थ=अथक परिश्रम । संकल्प=दृढ निश्चय । मेदिनी= पृथ्वी, संसार । चर्मपादुका=चमड़े की चप्पलें । सार्थकता=महत्व अथवा अर्थ ।

प्रसंग—पाण्डवता के सभी तत्व क्रमशः एक-एक करके हिम में विलीन होते जा रहे है । द्रौपदी के रूप में सांसारिकता, नकुल के रूप में स्वरूप और सहदेव के रूप में ज्ञान की समाप्ति हो गयी है। इस पर अर्जुन युधिष्ठर के प्रति अपनी जिज्ञासा व्यक्त करते हुए कहते हैं—

व्याख्या--हे बंधु युधिष्ठर ! इस प्रकार क्रमशः सबके समाप्त होते जाने से तो एक यही आशय निकलता है कि व्यक्ति के अथक परिश्रम और दृढ निश्चय का तो कोई महत्व ही नहीं रह जाता है। सभी क्रमशः एक-एक कर चले जा रहे है, साथ कुछ भी उनके नही जा रहा है और न ही कोई उन्हें बचा पा रहा है। फिर तो, इस सम्पूर्ण पृथ्वी पर सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेने का भी कोई अर्थ नही रह जाता है। यह तो मिथ्या अभिमान एवं ज्ञान है, भ्रम है और उसी प्रकार से है जैसे मानो कोई व्यक्ति चमड़े की चप्पलें पहनकर यह समझने लगे कि सम्पूर्ण पृथ्वी ही चमडे से मढी हुई है। इस प्रकार, मानव जो अथक परिश्रम करता है उसका तो कोई अर्थ ही नही रह जाता है, कोई महत्व नही रह जाता है।

विशेष (१) यहाँ पुरुषार्थ एवं संकल्प को सब कुछ समझने वालों की ओर से एक जिज्ञासा है जिसका उत्तर धर्मराज युधिष्ठर अग्रिम पंक्तियों में देते है। धर्मराज युधिष्ठर कवि के विचारो का प्रतिनिधित्व करते है शेष पात्रो की अवस्थिति तो मात्र जिज्ञासा प्रदर्शन हेतु ही जान पड़ती है।

(२) अलंकार—दृष्टान्त।

क्या तुम्हें अब भी··· ··· ···की है पार्थ। (पृष्ठ १०१-१०२)

शब्दार्थ—वैचारिक=विचारो के। चक्र-व्यूह=ऐसा व्यूह जिससे निकल पाना संभव न हो। चेष्टा=प्रयत्न, कोशिश।

प्रसंग—पाण्डवो ने पुरुपार्थ किया, संकल्प के अनुसार कार्य किया किन्तु अन्त मे पाण्डवता के अंग एवं तत्व—क्रमशः एक-एक करके विलीन होते जा रहे है, हिम मे समाधिस्थ होते जा रहे है। इस पर अर्जुन ने धर्मराज युधिष्ठर से पुरुपार्थ एवं संकल्प के महत्व को जानने की जिज्ञासा व्यक्त की। प्रस्तुत अवतरण में युधिष्ठर अर्जुन की जिज्ञासा का समाधान करते हुए कहते है—

व्याख्या—हे अर्जुन ! इतना सब कुछ सहने और देखने के पश्चात् भी क्या तुम पुरुपार्थ और सकल्प की कोई सार्थकता समझते हो ? क्या इसका भी कोई अर्थ रह गया है ? जब तुम विचारों के चक्रव्यूह मे फंसते हो अथवा विचार करते हो तो संकल्प और पुरुषार्थ तक ही अपने विचारो को क्यो परिसीमित रखते हो, उससे आगे अपनी विचार-सरिणी को अग्रसर क्यो नही करते हो ? जिज्ञासा के केन्द्र मे जो एक अज्ञात वस्तु अथवा विचार है, तुम उस पर विचार क्यों नही कर पाते हो, जिसके सम्बन्ध मे कभी कुछ सोचा

ही नहीं जाता है, उसका कोई इतिहास नहीं लिखा जाता है। हे अर्जुन! जिस व्यक्ति का हम इतिहास लिखा करते हैं क्या तुमने कभी इस बात पर भी विचार किया है कि उसने अपने जीवन में कितने कष्ट सहे हैं? संसार ने उसके प्रति वैसा व्यवहार किया है?

विशेष—(१) यहाँ 'अनाम व्यक्ति' से आशय 'व्यक्तित्व' से है। व्यक्ति इससे बड़ा होता है जिसे प्रकृति का नाम भी दिया जा सकता है।

(२) भाषा भावाभिव्यक्ति में पूर्णतः समर्थ है।

पुरुषार्थ और संकल्प...... .... मुक्त करा सके। (पृष्ठ १०२)

शब्दार्थ—पुरुषार्थ=कठोर परिश्रम। गाण्डीव=अर्जुन का धनुप। मुक्त=स्वतन्त्र।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण में धर्मराज युधिष्ठर अर्जुन की पुरुपार्थ एव संकल्प सम्वन्धी जिज्ञासा का समाधान करते हुए कहते है—

व्याख्या—हे अर्जुन! क्या वास्तव में तुम मानते हो कि पुरुपार्थ और संकल्प भी इस विश्व मे कुछ महत्व रखते है? यदि यह सत्य है तो तुम तो अत्यन्त शक्तिशाली और वलवान थे, तुम्हारे पास वरुण देव का दिया हुआ गाण्डीव नामक दिव्य धनुप था और इस सबके वावजूद तुम अपनी प्रिया द्रौपदी को हिम के दृढ पाश से विमुक्त कराने मे सर्वथा असमर्थ रहे हो अर्थात् तुम्हारा दृढ़ निश्चय और कठोर परिश्रम भी द्रौपदी के प्राणों की रक्षा नहीं कर सका। आखिर ऐसा क्यों? क्या तुमने कभी इस पर विचार किया है?

विशेष—(१) अर्जुन की जिज्ञासा के समाधान हेतु कवि ने यहां प्रश्न-शैली का ही आश्रय लिया है।

(२) पुरुपार्थ और संकल्प की महत्ता का वास्तविक अंकन करने का प्रयास किया गया है।

(३) अलंकार—वक्रोक्ति।

सम्भवत: एक सीमा ... .. चढ़ पा रही। (पृष्ठ १०२-१०३)

शब्दार्थ—विवशता=मजबूरी। नगण्य=महत्वहीन, जिसकी गणना ही न हो। मेदिनी=पृथ्वी। यज्ञाश्व=यज्ञ का घोड़ा। अयाल=घोड़े की गर्दन के बाल। यहाँ अयाल से आशय घोडे को वश में करना या यज्ञ करने वाले को चुनौती देना है। साहस=हिम्मत। प्रत्यंचा=धनुप की डोरी, जिस पर वाण चढ़ाया जाता है। अवश=जो अपने वश में न हो।

प्रसंग—अर्जुन ने युधिष्ठिर से संकल्प और पुरुषार्थ के सम्बन्ध में जानने की इच्छा की तो उस पर धर्मराज युधिष्ठिर ने अर्जुन से प्रश्न कर दिया। यहां अर्जुन धर्मराज युधिष्ठिर के प्रतिप्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं—

व्याख्या—हे धर्मराज युधिष्ठिर ! मुझे लगता है कि एक सीमा के पश्चात् प्रश्न का उत्तर भी स्वतः ही प्रश्न बन जाता है। यही कारण है कि आप मेरे प्रश्न के उत्तर मे प्रश्न ही कर रहे है। अर्थात् इस प्रकार मेरे प्रश्न का उत्तर न देकर आप मुझ से प्रश्न ही करते है।

मनुष्य की यह कैसी विवशता है—मजबूरी है कि संपूर्ण शक्ति, दृढ़ निश्चय एवं अथक पुरुषार्थ के रहते हुए भी वह संसार में महत्वहीन ही बना रहता है अन्यथा मै ऐसा कैसे कहता। मैने स्वयं अपने गाण्डीव से राजसूय यज्ञ मे छोड़े हुए घोड़े की रक्षा की थी —संसार भर में— सम्पूर्ण धरती मे कोई भी ऐसा शक्तिशाली राजा नही था जो उस यज्ञ के घोड़े का स्पर्श भर कर पाता। मेरे रहते हुए यज्ञाश्व का बाल भी बाका नही हुआ। सभी राजा-महाराजाओं का अथक पुरुषार्थ मेरे सम्मुख असफल हो गया। मैने अपने गाण्डीव से छोड़े गए बाण की नोक से कौरवो की शक्ति से अपनी रक्षा की। अर्थात् अत्यन्त शक्तिशाली कौरव भी मुझे पराजित करने मे असमर्थ रहे। किन्तु भाग्य की विडम्बना ! इतनी सामर्थ्य और शक्ति के रहते हुए भी मै अपनी प्राणप्रिया द्रौपदी की रक्षा करने मे असमर्थ रहा। वही यह गाण्डीव धनुष है, वही धनुष की प्रत्यंचा है और उसी गाण्डीव को धारण करने वाला मै अर्जुन हूं। सब कुछ वही है, कुछ भी तो परिवर्तित नही हुआ है लेकिन सब कुछ होने पर भी द्रौपदी को अंत मे हिम में समाधि लगाने से मै नही बचा सका। लगता है कि प्रत्यंचा हम धनुष पर न चढाकर अपने ही व्यक्तित्व पर चढाते है अर्थात् हम अपने व्यक्तित्व को अधिक महत्वपूर्ण समझते है किन्तु आज तो अपना व्यक्तित्व भी अपने अधिकार में नहीं रह गया है इसीलिए तो धनुष पर प्रत्यचा नही चढ पा रही है, कार्य सम्पूर्ण नही हो पा रहा है।

विशेष—(१) प्रस्तुत अवतरण में कवि ने अर्जुन की अपार शक्ति और गाण्डीव धनुष की अपराजेयता का वर्णन किया है।

(२) कवि ने यहां नियति की अपरिमेय शक्ति और मानव की विवशता का चित्रण किया है।

(३) वर्णन मे अतिशयोक्ति है।

सव्यसाची ! प्रकृति से.......... से सम्भव नहीं। (पृष्ठ १०३-१०४)

शब्दार्थ— सव्यसाची=अर्जुन; अर्जुन दोनों हाथों से समान शक्ति से वाण चलाने में सक्षम थे, इसी कारण अर्जुन का यह नाम पड़ा। भेदन=भेद सकने वाला। परात्पर=परमात्मा; जो सबसे परे हो।

प्रसंग --अर्जुन का धर्मराज युधिष्ठर के प्रति कथन था कि व्यक्तित्व महत्वशाली होता है। अर्जुन के इसी कथन के प्रसंग में धर्मराज युधिष्ठर का कथन है —

व्याख्या हे अर्जुन ! यह स्पष्ट है कि व्यक्ति प्रकृति से वड़ा नहीं होता है। प्रकृति का महत्व ही सर्वोपरि है। ऐसा कोई भी शस्त्र नही है जो प्रकृति के धर्म का छेदन कर सके। यहाँ प्रकृति के धर्म का छेदन करने का अभिप्राय है परात्पर होना, सभी प्रकार के विचारों से परे होना और यह स्थिति शस्त्र द्वारा प्राप्त करना किसी भी रूप मे संभव नही है।

विशेष —(१) प्रस्तुत अवतरण में प्रकृति के महत्व को सर्वोपरि वतलाया गया है।

(२) भाषा भावाभिव्यक्ति मे पूर्णतः सक्षम है।

अभी तुमने देखा .... होना हो जाता है। (पृष्ठ १०४-१०५)

शब्दार्थ--सम्पदा=संपत्ति। अनिद्य=अनुपम, निन्दा से परे। अतंरंग= अभिन्न, हार्दिक। केलि-सखा=रति-विलास करने वाले मित्र। आकुल= व्याकुल। विकराल=भयकर। रागात्मिका=प्रेम, आसक्ति का भाव। अमानवीय=मानवता से हीन।

प्रसंग—धर्मराज युधिष्ठर ने अर्जुन को वतलाया कि प्रकृति और उसका धर्म ही सर्वोपरि है, उसे शस्त्र भी विजित नही कर सकते। वह इस तथ्य की प्रामाणिकता अन्तरग जनो के परिप्रेक्ष्य मे सिद्ध करते है। धर्मराज युधिष्ठर का अर्जुन के प्रति कथन है—

व्याख्या—हे अर्जुन ! अभी-अभी तुमने देखा कि सांसारिक सम्पदा की साकार प्रतिमूर्ति और तुम्हारे एकान्त के मुन्दर क्षणों में साथ देने वाली तुम्हारी प्रियतम द्रौपदी तुमको अपनी सहायता के लिए पुकारती रही और तुम शक्तिशाली होते हुए भी उसकी सहायता करने मे पूर्णतः असमर्थ रहे। हे अर्जुन ! तुम कर्ण से भी श्रेष्ठ योद्धा हो, श्रीकृष्ण के तेजस्वी मित्र हो, निंदा से परे अनुपम सुन्दरी द्रौपदी के साथ एकान्त मे केलि-विलास अथवा रति-क्रीड़ा करने

वाले हो किन्तु इस समय अपने शरीर का भार वहन कर सकने में भी तुम असमर्थ रहे हो, इस समय तुम्हारे पैर हिम की अत्यधिक शीतता में ऐंठे जा रहे है और तुम्हारे लिए इस हिम शिखर पर चढ़ना— तिल-तिल करके चढ़ पाना भी असंभव हो रहा है। युधिष्ठिर के कहने का अभिप्राय यह है कि जब तुम ही अपनी यात्रा पूर्ण करने में अपने को असमर्थ पा रहे हो तब द्रौपदी की रक्षा तुम कैसे कर सकते थे। जिस समय तुम्हारी प्रिया ने सहायता के लिए तुम्हारी ओर हाथ बढ़ाये उस समय तुमने और भीम ने दोनों ने आकुल-व्याकुल होकर सहायता देने के लिए अपने हाथ आगे बढ़ाये किन्तु बड़े दुःख के साथ कहना पड़ता है कि उन विकराल हिम-नदों से न तो तुम दोनों प्रिया द्रौपदी के प्राणों की रक्षा कर सके और न ही अपने दोनों भाइयों—नकुल और सहदेव—जो हिम मे समाधिस्थ अवस्था को प्राप्त हो रहे थे, की सहायता ही कर सके। उन तीनों ने—द्रौपदी, नकुल और सहदेव – हिम में समाधि ले ली, अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दी और तुम दोनों अर्जुन और भीम—देखते-के-देखते ही रह गये—हाथ मलते रह गए। इस प्रकार अपने नेत्रों के सम्मुख अपने प्रियजनों, निकटतम सम्बन्धियो को भयंकर स्थिति मे पड़कर नष्ट होते हुए देखकर अत्यन्त ही दुःख होता है। हे अर्जुन ! ऐसा स्वयं तुमने अनुभव किया होगा। पर एक स्थिति ऐसी भी आती है जहाँ पहुँचकर दु:खी होना भी एक अमानवीय कार्य बन जाता है। कहने का अभिपाय यह है कि दु:ख की चरम स्थिति पर पहुँचकर मानव किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है अथवा वह मन को संतोष वृत्ति से युक्त कर लेता है।

विशेष – (१) 'महाप्रस्थान' का मुख्य उद्देश्य है–मानव मुक्ति और इसके लिए कवि ने व्यक्ति को सभी रागात्मक सम्बन्धों से विमुक्त होना आवश्यक माना है।

(२) द्रौपदी और अर्जुन के विशेष रागात्मक सम्बंधो की ओर कवि ने सांकेतिक रूप मे इंगित कर दिया है।

(३) अलंकार वक्रोक्ति एव वीप्सा।

प्रश्न और जिज्ञासा में········ निष्कर्ष या बन्धु। (पृष्ठ १०५)

शब्दार्थ—जिज्ञासा=किसी बात को जानने की इच्छा। परित्याग= छोड़ देना। वानप्रस्थ=आश्रम विशेष, तृतीय आश्रम, जिसमें पति और पत्नी सात्विक हृदय से साथ रहकर और सांसारिकता से पृथक होकर भगवद् भक्ति

में तल्लीन हो जाते है। वैचारिकता=विचार-शक्ति। निष्कर्ष=निचोड़, सारांश।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण में धर्मराज युधिष्ठर अर्जुन को प्रश्न और जिज्ञासा के अन्तर स्पष्ट करते हुए कहते हैं :

व्याख्या—हे अर्जुन ! क्या तुम प्रश्न और जिज्ञासा में क्या अंतर है, भली प्रकार समझते हो ? मुझे लगता है कि तुमने प्रश्न और जिज्ञासा के अन्तर को समझने का कोई प्रयास ही नही किया है। वास्तविकता यह है कि यदि तुम सत्य की प्राप्ति करना चाहते हो तो इसकी प्राप्ति तुम्हें दूसरे व्यक्तियों से प्रश्न करके प्राप्त नहीं हो सकती है, इसके लिए स्वयं से ही जिज्ञासा करनी होती है ! अर्थात् इसके सम्बन्ध मे तुम्हें स्वयं ही सोच-विचार करना होगा, अपने अन्तर्मन में झांकना होगा। हे अर्जुन ! सुख और दुःख के ही सम्बन्ध में मैं सदा जिज्ञासु रहा हूं, मै वास्तविकता को जानने के लिए सदा प्रयत्नशील रहा हूं। मैं यह भली प्रकार से समझता हूँ कि मेरे द्वारा राज्य का परित्याग किए जाने से तुम्हें बहुत ही कष्ट हुआ होगा और ऐसा होना स्वाभाविक भी है। इस ससार में कौन ऐसा प्राणी है जो सुख-ऐश्वर्य और विलास को छोड़कर दुःख और विपत्तियों को आमंत्रित करे। मैने स्वयं ही दुःख और विपत्तियों को आमंत्रित किया है। मैंने धर्मशास्त्र के आचरण को दृष्टि मे रखते हुए वानप्रस्थ आश्रम को अपनाया। मेरे राज्य त्याग करने का यह कारण कदापि नहीं रहा है अपितु पूर्ण विचार-विमर्श के निष्कर्ष स्वरूप ही मैंने राज्य का त्याग किया है और जो मेरी दृष्टि में सर्वथा उचित है।

विशेष - (१) प्रस्तुत अवतरण में धर्मराज युधिष्ठर के चरित्र पर प्रकाश डाला गया है। धर्मराज युधिष्ठर परम्पराओं और शास्त्रीय-विधानो पर उतनी आस्था नहीं रखते जितना कि मानव के शाश्वत मूल्यो पर। इसी कारण प्रत्येक कार्य करने से पूर्व वह बहुत ही सोच-विचार कर उचित निर्णय लेते थे।

(२) यहाँ कवि ने युधिष्ठर के माध्यम से प्रश्न और जिज्ञासा के अंतर को स्पष्ट कर बतलाया है कि सत्य को जानने के लिए जिज्ञासा-वृत्ति का होना परमावश्यक है।

वस्तुओं से हीन ..... संकल्प कहते हो। (पृष्ठ १०५-१०६)

शब्दार्थ - हीन=विहीन, रहित। कुचक्र=षड्यन्त्र। परिवृत=घेरा। पर्याय=अनुक्रम, उसी का तात्पर्य, समानार्थी।

कभी उन विचार हारा ·····कौन उत्तरदायी होगा। (पृ० १०७-१०८)

शब्दार्थ—विचार हारा=जिनके विचार कभी पूरे नही होते। दीप्तित= आलोकित, प्रकाशित। अभ्यस्त=अभ्यासी हो गए है, आदी। वर्णसंकरता= भिन्न जातियों के स्त्री-पुरुषों के सहवास से उत्पन्न संतान। कुष्ठता= कोढ, एक असाध्य रोग।

प्रसंग—मानव अपने प्रति किए गए अपमानजनक व्यवहार के विषय में सोचता है तथा न्याय प्राप्ति के लिए संघर्ष करता है। युधिष्ठर यह सब स्वीकार नही करते और इस सम्बंध में अपने विचार इस प्रकार व्यक्त करते है—

व्याख्या—हे अर्जुन ! तुम कभी उन साधारण व्यक्तियों के संबंध मे भी तो सोच-विचार करो जिनके पास अपने कोई विचार नहीं है अथवा जिनमे विचार करने की शक्ति नही है, जो सदैव ही समाज में अपमानित होते रहते है और जिनके स्वत्वों का अपहरण करके ही हमने अपने साम्राज्यो की नीव को दृढ़ कर लिया है, उनके कारण ही तो हमारा साम्राज्य आलोकित-प्रकाशित है, भलीभाँति चल रहा है। जो लोग अन्याय और अत्याचार को ही जीवन का सर्वस्व मानकर दूसरो पर निरन्तर अन्याय और अत्याचार करने के आदी हो गए हैं, वे यह भलीभांति नहीं जानते कि न्याय भी कुछ होता है। सभी युद्धों का कारण होता है कोई साम्राज्य और हर युद्ध की हार-जीत के बाद एक नए साम्राज्य का उदय होता है। इस नए साम्राज्य के उदय मे न जाने कितने वीर योद्धा काम आते है, न जाने कितनी स्त्रियाँ विधवा हो जाती है, न जाने कितनी माताएं निस्सहाय हो जाती है और न जाने कितने बच्चे अनाथ हो जाते है—ये सभी दिशाहीन होकर जीवन-भर भटकते रहकर संघर्ष ही करते रहते है और राज्य भी उन्हें ऐसा करने के लिए बाध्य कर देता है, समाज भी सहायता करने के लिए अपना हाथ नही बढ़ाता है।

हे अर्जुन ! तुम्हारे अभिन्न-मित्र एवं परमसखा श्रीकृष्ण ने ही तो कहा था—युद्ध की समाप्ति के पश्चात् समाज में अनुशासनहीनता आ जाती है और जिसके परिणामस्वरूप विभिन्न जातियो के स्त्री-पुरुषों के सहवास से औरस सन्तानों का जन्म होता है। क्या तुम युद्ध के बाद की उस स्थिति के संबध मे कल्पना कर सकते हो जब इस सम्पूर्ण धरा पर न किसी का कुल रहेगा, न [illegible] रहेगा और मात्र वर्णसंकर प्राणी ही जीवित रहकर विचरण करेगे ? उस

दिन समाज और राज्य की वास्तविक स्थिति क्या होगी—क्या कभी शीतल मन से तुमने इस पर विचार किया है ? इस प्रकार हे अर्जुन ! मानव-जाति का इतिहास कुष्ठ रोग के समान हो जाएगा—जिसका निदान पूर्णतः असंभव है। बतला सकते हो कि इसके लिए कौन उत्तरदायी होगा ?

विशेष—(१) प्रस्तुत अवतरण में कवि ने युद्ध के विनाशकारी परिणामों और परम्पराहीनता की स्थिति आने की ओर स्पष्ट संकेत किया है।

(२) यहाँ युधिष्ठर एक विचारक के रूप में हमारे समक्ष आते हैं।

आज, नहीं तो कल ....पर्याय बन जायेंगे। (पृष्ठ १०८)

शब्दार्थ—सुदूर=काफी लम्बे। आतंक=भय। आदिम=प्राचीन, प्रारम्भिक। पर्याय=समानार्थी।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण में युधिष्ठर युद्ध के दुष्परिणामों पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं—

व्याख्या—हे अर्जुन ! राजा तो स्वयं ही कठोर, निर्दयी और अत्याचारी होते ही हैं किंतु आगे आने वाले समय में ये राज्य भी राजा की अपेक्षा कहीं अधिक कठोर, कही अधिक निर्दयी और कही अधिक अत्याचारी हो जाएंगे और आगे चलकर दीर्घ समय के उपरान्त राज्य की व्यवस्थाएं ही राज्य की अपेक्षा कही अधिक अमानवीय हो जाएंगी। कहने का अभिप्राय यह है कि सुदूर काल में जाकर राज्य की व्यवस्थाएं इतनी अधिक शक्तिशाली एवं अमानवीय हो जाएंगी जिनसे छुटकारा पाना किसी भी स्थिति में संभव नहीं हो सकेगा। राज्य-व्यवस्था के प्रमुख आधारस्तम्भ हैं—युद्ध और आतंक। ये दोनों ऐसी प्रवृत्तियाँ है जिनका शिलान्यास मनुष्य की आदिम प्रवृत्तियों ने—अमानवीय प्रवृत्तियों ने—बार-बार किया है और हे अर्जुन ! यह भी तुम निश्चय-पूर्वक जान लो कि एक दिन युद्ध और आतक ही सामाजिकता का स्वरूप ग्रहण कर लेंगे, सामाजिकता के आवश्यक तत्वों के रूप में जाने जाते रहेंगे।

विशेष—(१) युद्ध करके जनता में आतक फैलाना मानव की आदिम प्रवृत्ति है। प्रस्तुत अवतरण में कवि ने इसकी ओर स्पष्ट संकेत किया है।

(२) यहाँ मानव के कठोर होने की प्रवृत्ति और शक्ति प्राप्त होने पर अहंकारी बन जाने की ओर स्पष्ट इंगित किया गया है।

(३) भाषा भावाभिव्यक्ति में पूर्णतः सक्षम है।

युद्ध में हमने ....अधिक गहरा है। (पृष्ठ १०६)

शब्दार्थ— कृत्यों=कार्यों। श्रेष्ठ=अच्छा।

प्रसंग—धर्मराज युधिष्ठर ने अर्जुन को युद्ध और आतंक एवं उसके परिणामों से अवगत कराया। इसके पश्चात् वह महाभारत की विजय से उत्पन्न संकट की ओर भी सांकेतिक रूप में प्रकाश डालते है। उनका अर्जुन से कहना है-

व्याख्या—हे अर्जुन! हम अत्यन्त शक्तिशाली थे। हमने महाभारत के नर-संहारक युद्ध में कौरवों को बुरी तरह से पराजित किया और तुमने आंतक और भय का आश्रय लेकर पाण्डवों के राज्य-कोष को बढ़ाने का अथक प्रयास किया। ये हमारे मानवता विरोधी कार्य थे। हमारे इन कार्यों के कुछ ऐतिहासिक परिणाम निकले, जिनमें पहला परिणाम यह निकला कि उस समय (अर्जुन के समकालीन) अर्जुन से बढकर कोई वीर-योद्धा नही हुआ और धर्मराज युधिष्ठर ही एकमात्र चक्रवर्ती सम्राट रहे। किंतु यह तो मानवता नही है। हे अर्जुन! क्या तुम नही जानते कि मानवता का यह रथ अनदेखे और अनपहचाने मार्ग पर निरन्तर बढता जा रहा है। विजय और वैभव की प्राप्ति अथवा गौरव की प्राप्ति ही तो मानवता का अथ और इति नही है। विजय और वैभव की प्राप्ति से उत्पन्न होने वाला संकट तो कही अधिक गहरा है, भयकर है, त्रासक है। उसकी तो कल्पना करना भी एकदम संभव नहीं है।

विशेष—(१) यहाँ युधिष्ठर एक विचारक के रूप में हमारे सामने आते है।

(२) मानव की शक्ति अमानवीय कृत्यो के सहारे वैभव और सम्पत्ति को ला सकती है किंतु इससे मानवता का विकास संभव नही है।

(३) अलंकार- रूपक।

कैसा संकट .... चली गयी है। (पृष्ठ १०६)

शब्दार्थ—वितृष्णा=विरक्ति का भाव।

प्रसंग—धर्मराज युधिष्ठर ने अर्जुन को बतलाया कि विजय और वैभव की प्राप्ति से उत्पन्न होने वाला संकट कही अधिक गहरा है तो, इस पर अर्जुन धर्मराज युधिष्ठर से संकट को जानने की बात कहते है।

व्याख्या—हे युधिष्ठर! अभी-अभी आपने सकट के कही अधिक गहरे होने की बात कही है किंतु बतलाओ कि आप कौन से और किस प्रकार के संकट के गहरे होने की सभावना अभिव्यक्त करते है। मेरी समझ में यह नही

आ पा रहा है। मै तो केवल यह समझ पाया हूँ कि वितृष्णा का भाव आपमें अत्यधिक गहरा पैंठ गया है, जो निकाले नहीं निकल पा रहा है।

विशेष—(१) अर्जुन की वैचारिकता स्पष्ट है।

(२) अर्जुन का कथन काव्य के विकास में सहायक हुआ है।

वितृष्णा ?? मैने वितृष्णा ·····का दर्शन है। (पृष्ठ १०६-११०)

शब्दार्थ—वितृष्णा=विरक्ति। मोहभंग=भ्रान्ति निवारण, मोह का टूटना। वैचारिक=विचारों के। मन्थन=मथना, गहन रूप में सोच-विचार।

प्रसंग—अर्जुन धर्मराज युधिष्ठर के विचारों को उनके मन की गहरी वितृष्णा का परिणाम मानते है। इस पर युधिष्ठर अर्जुन को स्पष्ट उत्तर देते हुए कहते है—

व्याख्या—हे अर्जुन! तुम वितृष्णा की बात करते हो? यह तुम भली प्रकार से समझ लो कि मैने वितृष्णा अथवा विरक्ति की भावना से युक्त होकर राज्य का त्याग नही किया है, न ही राज्य का त्याग मोह-भग की स्थिति के परिणामस्वरूप किया है और न ही किसी बाहरी तृष्णा की आवश्यकता का मैने अनुभव किया। कहने का अभिप्राय यह कि मैने किसी धर्मोपदेशक के उपदेशों को सुन कर ही राज्य का परित्याग किया है। मैने बहुत दिनों तक अपने मन में अनेक प्रकार से विचार करके, मोच करके देखा है और यह निर्णय लिया कि सारे मानवीय दु खों का एकमात्र कारण है राज्य, राज्य-व्यवस्था और राज्य-व्यवस्था का दृष्टिकोण अथवा दर्शन. और इसीलिए मैने राज्य का त्याग किया है। एक वाक्य में राज्य का त्याग मेरे वैचारिक-मथन का परिणाम है।

विशेष—(१) युधिष्ठर के चरित्र की दृढता एवं विचारशीलता का यहाँ वर्णन हुआ है।

(२) युधिष्टर के माध्यम से कवि ने यह अभिव्यक्त करने की चेष्टा की है कि समस्त दु खो का मूल कारण शक्ति, वैभव एवं स्वार्थ-प्रवृत्ति है। वैचारिकता का अभाव भी इसके मूल कारणों मे से है।

(३) भाषा भावाभिव्यक्ति मे पूर्णत: समर्थ है।

राज्य के नहीं ·· विंध्याचल हो जाए। (पृष्ठ ११०)

शब्दार्थ—अकुश=नियन्त्रण। प्रतिष्ठापित=सम्मान एवं आदर प्रदान करना। अलघ्य=जो लाघा न जा सके। विंध्याचल=पर्वत विशेष का नाम।

प्रसंग—अर्जुन ने धर्मराज युधिष्ठर से जिज्ञासा व्यक्त की—'यदि राज्य न

होगा तो समाज का क्या होगा ?' अर्जुन की इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए युधिष्ठर कहते है—

व्याख्या—हे अर्जुन ! समाज कभी भी राज्य द्वारा बनाए गए नियमों पर आधारित नही रहता अपितु वह सदा धर्म द्वारा बनाए गए नियमो पर आधारित रहकर आगे बढ़ता है। राज्य निरकुंश और अत्याचारी न हो जाए, इसके लिए यह अनिवार्य है कि धर्म और विचार को स्वतंत्र रहने दिया है। यदि धर्म एवं स्वतंत्र विचारकों को संचालित किया जाएगा, उन पर नियन्त्रण किया जाएगा तो समाज निश्चय ही दूषित होगा और वह मानवीय गुणो से विहीन होकर रहने योग्य ही न रहेगा। किसी भी व्यक्ति को इतना महत्व एवं प्रतिष्ठा नही दी जानी चाहिए कि वह अपने को सर्वश्रेष्ठ समझकर दूसरों को परेशान करे—उन्हे कष्ट पहुँचाए; किसी भी व्यक्ति को विंध्याचल के समान नही होने देना चाहिए जिसे लांघा ही न जा सके, जिसके विरोध मे कुछ न कहा जा सके।

विशेष—(१) कवि ने मत व्यक्त किया है कि व्यक्ति को उतना ही अधिकार देना चाहिए जिससे वह अपने अधिकारों का दुरुपयोग न कर सके। अपने को अधिक शक्तिशाली न बना सके।

(२) समाज के विकास के मूल आधार के रूप मे धर्म और विचार को प्राथमिकता दी गयी है।

(३) मानव-विकास के लिए धर्म और विचारों का स्वतंत्र होना आवश्यक है—इस तथ्य की ओर लेखक ने संकेत किया है।

यह सबसे खतरनाक ... ...देना होगा पार्थ। (पृष्ठ ११०-१११)

शब्दार्थ—क्रूरताओ=भयंकर कठोरताओ। षड्यन्त्र=दूसरों के विरोध के लिए योजना तैयार करना। उदात्तताओ=महानताओ और श्रेष्ठताओ। प्रतिपालक=पालन करने वाले। कपोल-कल्पित=कल्पना के आधार पर गढ़ी हुई। सिंह=शेर, यहाँ वीरता से आशय है। उत्स=मूल उद्गम स्थान। प्रज्ञा=विवेक, ज्ञान-चक्षु। वैश्वानरी=चंद्रवीथि का एक भाग, तेजवान् पुरुष।

प्रसंग—महाराज युधिष्ठर का कहना है कि समाज का नियम धर्म के आधार पर होता है, राज्य के आधार पर नही, अतः धर्म और विचार को स्वतंत्र छोड़कर, किसी व्यक्ति विशेष को महत्व न दिया जाए। इस पर अर्जुन

का कहना है कि धर्म का प्रतिपालक राजा ही तो होगा, अतः राजा को महत्व तो दिया ही जाना चाहिए। इस पर धर्मराज युधिष्ठर अर्जुन को सम्बोधित कर कहते हैं—

व्याख्या—हे अर्जुन ! तुम्हारा कथन है कि धर्म का प्रतिपालक राजा है अतः राजा को महत्व दिया ही जाना चाहिए—मेरी दृष्टि में यह सबसे बड़ा खतरनाक दर्शन है। राजा और राज्य तो सदा से ही भयंकर यातनाएं एवं कठोरताएं उत्पन्न करने वाले तथा दूसरों का विरोध करने वाले, दूसरों पर अत्याचार करने वाले होते हैं। अर्थात् ये राजा और राज्य तो सदा से क्रूरताओं और षड्यंत्रों के प्रतीक रहे हैं, ये धर्म के प्रतिपालक कैसे हो सकते हैं ? इनमें करुणा का भाव कहां है ? इनमें मानवीय उदात्तताएं—दया, प्रेम, उदारता आदि भावनाएं कहाँ हैं ? ये तो इनसे सदा दूर ही रहते हैं। धर्म तो सदा से मानव के अच्छे गुणों और दूसरों पर दया करने वालों के प्रतीक रूप में आया है तो फिर राजा और राज्य धर्म को विकसित करने वाले और प्रश्रय देने वाले किस प्रकार हो सकते हैं। धर्म तो सदा से ही मानव की भलाई की ओर प्रवृत्त रहता है और कभी भी किसी मनगढ़न्त कथा में भी किसी शेर को सन्यासी होते नहीं देखा गया है। अर्थात् राजा सदैव ही अपनी अनीति को त्यागने में असमर्थ रहता है। हे अर्जुन ! मानवीय भूमि पर आधारित धर्म का जन्म-स्थल राज्य नही होता अर्थात् राज्य कभी भी धर्म को उत्पन्न नही कर सकता, उसका वास्तविक विकास-क्षेत्र तो मानव का विवेक एवं उसकी प्रज्ञा है और इस प्रकार के तेज से युक्त, अग्नि की भांति दीप्त मानव सदा से ही राज्य से अधिक महत्वपूर्ण रहा है। जब धर्म से अनुप्राणित मानव को राज्य से श्रेष्ठ समझा जाएगा तभी धर्म की नींव गहरी और स्थिर हो सकेगी।

विशेष—(१) प्रस्तुत अवतरण में कवि ने राजा, राज्य और धर्म के संबंध को बताकर धर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है।

(२) प्रज्ञापूर्ण मानव का महत्व प्रतिष्ठापित किया गया है।

(३) युधिष्ठर के माध्यम से कवि ने अपने मानवीय विचारों को अभिव्यक्त किया है।

(४) संस्कृत शब्दावली भावाभिव्यक्ति में समर्थ रही है।

(५) **अलंकार**—अनुप्रास।

तब क्या समाज ....बदल जाता है। (पृष्ठ १११)

शब्दार्थ—अराजक=अव्यवस्था फैलाने वाला।

प्रसंग—धर्मराज युधिष्ठर ने मानव को राज्य से कहीं अधिक श्रेष्ठ बतलाया, जिसके प्रत्युत्तर मे अर्जुन ने कहा—इससे तो समाज अराजक हो जाएगा ? अर्जुन की इसी जिज्ञासा का समाधान करते हुए युधिष्ठर कहते है—

व्याख्या—हे अर्जुन ! तुम्हारा कहना है कि यदि राज्य अथवा राजा की अपेक्षा मानव को अधिक महत्व दे दिया जाएगा तो इससे समाज मे अव्यवस्था फैल जाएगी—निश्चय ही तुम्हारा यह विचार एक राजा के विचार जैसा है अथवा तुम्हारा इस प्रकार सोचना ऐसा ही है जैसा कोई शासक सोचता है। दूसरे शब्दों में, तुम्हारा विचार करने की विधि राजाओं की भांति ही है। और हे अर्जुन ! किसी व्यक्ति का कोई विचार अथवा कोई भी भाषा भावों की अभिव्यक्ति के लिए पूर्ण नही होती है। अतः तुम जब इस प्रकार की भाषा का प्रयोग करते हो तो उसकी वास्तविक प्रकृति और उसका अर्थ भी परिवर्तित हो जाता है।

विशेष—(१) प्रस्तुत अवतरण मे राजा और सामान्य व्यक्ति की भाषा के अन्तर की ओर संकेत किया गया है।

(२) भाषा की शक्ति की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है।

जब राजा न होगा .... मत सौंपो। (पृष्ठ १११)

शब्दार्थ—वानस्पतिकता=वनस्पति सबंधी गुण, उदात्त, श्रेष्ठ। प्रज्ञा=बुद्धि, विवेक। छल=धोखा।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण मे अर्जुन ने प्रश्न किया कि जब राजा न होगा तब क्या होगा ? युधिष्ठर प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते है—

व्याख्या—हे अर्जुन ! तुम्हारा प्रश्न है—जब राजा न होगा तब क्या होगा ? इस प्रश्न का उत्तर बहुत ही सीधा है - जब राजा न होगा तब व्यक्ति होगा अर्थात् विश्व में राजा से कही अधिक श्रेष्ठ एव महत्वपूर्ण व्यक्ति है। जिस प्रकार वनस्पति अपने गुणों से समस्त विश्व का कल्याण करने में तत्पर रहती है उसी प्रकार व्यक्ति की मानवीयता भी उदात्तपूर्ण करुणा और प्रज्ञा से युक्त होगी। दूसरे शब्दो में, प्रत्येक मानव के हृदय में मानव के प्रति उदार, करुणा, प्रेम, दया के भाव जाग्रत होगे—मानव मानव को, उसकी कठिनाइयो को समझने का प्रयास करेगा। मैथिलीशरण गुप्त के शब्दों मे, 'मनुष्य वही है

जो मनुष्य के लिए मरे।' यह कहना सबसे बड़ा धोखा होगा कि राज्य ही प्रत्येक व्यक्ति के बीच एक सम्बंध का सूत्र है। वास्तव में सम्बंध का सूत्र तो उदात्त मानवीय भावनाएं ही है। राज्य को शस्त्र सौंपकर, उसे शक्ति देकर अन्यायी और अत्याचारी बना दिया गया है। इसके साथ ही हमारी धार्मिक-सामाजिक-सांस्कृतिक विचारधारा ही राज्य से अनुप्रेरित होगी अथवा राज्य के पक्ष में होगी तब विश्व में कुछ ही नही रह जाएगा। कहने का भाव यह है कि धर्म और विचार-सरिणी को राज्य से किसी भी भांति प्रभावित न होने दो। इसी में मानव-मात्र का कल्याण निहित है।

विशेष—(१) प्रस्तुत अवतरण में मानव का महत्व प्रतिपादित किया गया है।

(२) राज्य ही सर्वोपरि है—सब कुछ है—यह भ्रामक धारणा है।

(३) मानव को अपने विचार राज्य से अप्रभावित एवं पूर्वाग्रहों से मुक्त रखने चाहिए—इसी तथ्य की ओर प्रस्तुत अवतरण मे संकेत किया गया है।

राज्य-व्यवस्था की .... अमानवीय तंत्र।

शब्दार्थ—कराहते=चीखते हुए। अनिवार्यता=आवश्यकता। सम्पूर्ण=पूरी। संघबद्ध=परस्पर मिलकर पूर्व योजनानुसार कार्य करना। अकूत=जिसका अनुमान न लगाया जा सके। स्वत्वहीन=अपने स्वयं के अधिकारों से विहीन, महत्वहीन। गरिमा=गौरव। तन्त्र=व्यवस्था।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण में धर्मराज युधिष्ठर अर्जुन को बतलाते है कि राजा को ही सब कुछ मान लेना धोखा है। वे आगे कहते है :

व्याख्या—हे अर्जुन! राज्य-व्यवस्था की आधारशिला में कराहते हुए मनुष्य का नींव के रूप में रहना अत्यावश्यक है अर्थात् राज्य के द्वारा मानव पर अत्याचार किया जाना और उसे भांति-भांति के दु:ख देना बहुत ही आवश्यक है। इसी के परिणामस्वरूप तो मानव में मानव के प्रति स्वत: ही अत्याचार-अनाचार के प्रतिरोध में दया, प्रेम आदि का भाव जग जायगा, इसी से प्रेरित होकर तो वह मानवीयता से युक्त हो सकेगा। यदि इसी प्रकार से राज्य मे लूट, खसोट, युद्ध और षड्यन्त्र होते रहेंगे, मानव का जीवन असुरक्षित रह जाएगा तो मैं यह विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि यह सम्पूर्ण मानवता के विरुद्ध राज्य-व्यवस्था का परस्पर संघठित होकर पूर्व योजनानुसार विघटन का कार्य होगा—मानव-जाति के विनाश के लिए राज्य-शक्ति का

सामूहिक प्रयास होगा। इसमे किसी प्रकार का आश्चर्य नही माना जाना चाहिए। कारण, इस प्रकार के सिद्धांत पर टिकी राज्य-व्यवस्था का परिणाम ऐसा होना निश्चित है।

राज्य के अपरिमित शक्ति सम्पन्न होने का एकमात्र अर्थ ही यह है कि व्यक्ति का व्यक्तित्व सदा-सदा के लिए समाप्त हो जाए, मानव का महत्व ही सदा के लिए मिट जाए, वह सम्पूर्णतः अधिकारों से च्युत हो जाए। कारण स्पष्ट है कि शक्तिशाली राष्ट्र मानव की चिन्ता करता ही कब है? यदि तुम चाहते हो कि मानव की गरिमा बनी रहे तो इसके लिए आवश्यक यह है कि उसे राज्य की गरिमा का पर्याय बना दो, उसे भी राज्य के समान ही शक्ति-सम्पन्न और विवेकशील होने दो। व्यक्ति की गरिमा से ही राज्य का महत्व बढ़ सकेगा। वैसे भी व्यक्ति के अभाव में राज्य की कल्पना ही असंभव है। यदि कोई भी व्यवस्था मानव से ऊपर की वस्तु हो जाएगी तो इसका अर्थ होगा कि वह व्यवस्था अमानवीय होगी और उस व्यवस्था में, अत्याचार, अनाचार और अराजकता का ही बोलबाला होगा।

विशेष—(१) व्यक्ति राज्य और व्यवस्था से ऊपर है और अधिक महत्व-पूर्ण है। यहाँ इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है।

(२) भाषा भावाभिव्यक्ति में पूर्ण समक्ष है।

समाज अमूर्त होता है······· विरोधी नहीं। (पृष्ठ ११२-११३)

शब्दार्थ—अमूर्त=आकाररहित। फूलत्व=पुष्प का गुण, गंध। गंध-मादन=एक पुराण वर्णित पर्वत, जिसकी अवस्थिति इलावृत्त और भद्राश्व-खण्ड के मध्य बताई गई है, उस पर्वत पर लगा हुआ सुगंधित वृक्षों का जगल। अरण्य=वन।

प्रसंग—धर्मराज युधिष्ठर अर्जुन को बतलाते हैं कि व्यक्ति का अपना महत्व है, राज्य का गौरव भी तभी है जब वह मानव के गौरव को सामने रखकर चलता है। इसी बात को युधिष्ठर प्रकारान्तर से वन और पुष्प के माध्यम से स्पष्ट करते हुए कहते है—

व्याख्या—हे अर्जुन! समाज शब्द एक भाववाचक संज्ञा है, वह अमूर्त होता है जबकि व्यक्ति मूर्त होता है। व्यक्ति का एक धर्म होता है, उसकी एक विचारसरिणी होती है, उसमें कुछ मानवीय उदात्त भावनाए होती हैं। व्यक्ति का धर्म और उसकी विचारसरिणी ही समाज का धर्म और विचार-

धारा होती है—व्यक्ति के उदात्त मानवीय गुणों का प्रतिफल ही तो समाज है। यदि व्यक्ति के इन उदात्त मानवीय गुणों को समाप्त कर दिया जाएगा तो वन गंधमादन के स्वरूप को कैसे ग्रहण कर सकेगा। कहने का अर्थ है कि जब जंगल में वनस्पतियां आदि ही न होंगी तो वन का क्या महत्व रहेगा, वैसे ही मानव से विहीन, मानव गुणों से विहीन समाज की परिकल्पना कैसे हो सकती है ? अकेले मानव का समाज में उसी प्रकार से महत्व है, अस्तित्व है जिस प्रकार से एक पुष्प पूरे जंगल की सामूहिकता को प्रस्तुत करता है अपितु उसका विरोध नहीं करता है उसी प्रकार अकेला मानव भी सम्पूर्ण समाज या राज्य की सामूहिकता को कायम करता है न कि उसका विरोध करता है।

विशेष—(१) समाज में मानव की प्रतिष्ठा की समता पुष्प और वन के माध्यम से की गई है, जो अत्यन्त ही सटीक है।

(२) **अलंकार**—अन्योक्ति।

मैं इस षड्यन्त्र ········ स्वीकार नहीं हुई। (पृष्ठ ११३)

शब्दार्थ—नितान्त=बिल्कुल, एकदम। कृत्यों=कार्यों। हिम=बर्फ। इतिहासहीन=जिसके सम्बंध मे न कोई कुछ लिखे, पढ़े या जाने। सम्राट= शासक, राजा। वैभवपूर्ण=ऐश्वर्य-विलास से युक्त। नृशंस=क्रूर, अत्याचारी।

प्रसंग—युधिष्ठर का कथन है कि राज्य के मूल में मानव के प्रति अत्याचार का भाव निहित है। राज्य-व्यवस्था सदैव मानव के विपरीत षड्यन्त्र रचती रहती है। इसी सम्बंध में अपने कथन को अग्रसर करते हुए युधिष्ठर अर्जुन से कहते है—

व्याख्या—हे अर्जुन ! मै राज्य-व्यवस्था के मानव-विरोधी षड्यन्त्रों में भाग नहीं लेना चाहता था। यही कारण है कि मैं एक नितान्त साधारण व्यक्ति के समान होकर, अपने द्वारा किए गए अमानवीय कृत्यों के पश्चाताप-स्वरूप, हिम मे गलकर अपने को समाप्त कर देना ही उचित समझता हूं। मैं नही चाहता था कि इतिहास में मेरा नाम राजा और शासकों की सरिणि में रखा जाए—जो अपने अमानवीय कृत्यों और अत्याचारों-अनाचारों के लिए विश्व मे विख्यात होते हैं। मैं तो एक साधारण मानव होना ही श्रेष्ठ समझता हूं। एक राजा के रूप में वैभवपूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए, अतुलित आदर और सम्मान प्राप्त करते हुए एक नृशंस मृत्यु का वरण करना मुझे कभी स्वीकार नही हुआ और यही मूल कारण है जिससे अनुप्रेरित होकर मैंने राज्य

जो राजनीति के बल पर सत्ताधारी बन गया है कभी भी उदार चरित्र वाला नही हो सकता है और तुम इसी प्रकार के सत्ताधारी को धर्म, विचार और विवेक का पालन करने वाला बना देना चाहते हो। यदि तुम ऐसा करोगे तो इससे समाज का अहित ही होगा। हे अर्जुन! तुमको ऐसा कार्य कभी नही करना चाहिए जिससे समाज में शत्रुता का भाव अभिव्यंजित हो।

विशेष—(१) प्रस्तुत अवतरण में कवि ने राजनीति और राज्याकांक्षी व्यक्ति की स्थिति का वर्णन किया है।

(२) विष कन्या—वह कन्या या स्त्री जिसके शरीर में इस आशय से विष प्रविष्ट किया गया हो कि उसके साथ सम्भोग करने वाला मर जाए। प्राचीन भारत में धोखे से शत्रुओं का नाश करने के लिए कुछ लड़कियाँ बाल्यावस्था से कुछ दवाएं देकर तैयार की जाती थी और छल से शत्रुओं के पास भेजी जाती थी।

एक साधारण जन······· कर दी गयी हो। (पृष्ठ ११५-११६)

शब्दार्थ—हल की रेख=खेत मे हल चलाने से बनने वाले निशान। रथ की रेख=रथ के पहियों से बनने वाले निशान। रक्त-स्नान=खून से नहाये हुए। बान्धवता=भाईचारा। अप्रतिम=बेजोड़, अनुपम। कारागार=जेल। निर्मित=बनाना। विचार-शून्यता=विचारों से रहित।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण मे धर्मराज युधिष्ठर ने अर्जुन के समक्ष एक साधारण व्यक्ति और राजा के मध्य अन्तर स्पष्ट किया है। युधिष्ठर का अर्जुन के प्रति कथन है :

व्याख्या—हे अर्जुन! एक साधारण व्यक्ति पृथ्वी पर अपने हल की रेखा से धन और धान्य के भाषा ग्रन्थ की रचना करता है अर्थात् एक सामान्य व्यक्ति यथार्थरूप में श्रम करता है। इसके विपरीत शासन का अधिकारी राजा अपने अधिकारों और सत्ता को सुरक्षित रखने के लिए युद्ध रचता है और ऐसे इतिहास की रचना करता है जो रक्त-पात से युक्त है। सत्ता और अधिकारों के मोह मे अंधे सम्राट के लिए भाईचारे और मानवता का कोई अर्थ नही है। कारण यह है कि उसे अपने चारों ओर—इर्द-गिर्द—विद्रोह और षड्यन्त्र की ही गन्ध आती रहती है। राज्य के प्रत्येक कार्य में वह विद्रोह एवं षड्यन्त्र का आभास पाता है—यद्यपि ऐसा होता नही है, मात्र उसका भ्रम होता है। भ्रम का परिणाम यह होता है कि प्रत्येक बस्ती कारागार का रूप

ग्रहण कर लेती है जो किसी भी राज्य का अप्रतिम प्रतीक होती है। कहने का अभिप्राय यह है कि राजा के द्वारा जनता पर इतना कड़ा नियन्त्रण कर दिया जाता है कि प्रत्येक प्राणी निर्बंध रहकर भी ऐसा महसूस करता है कि उसे बलपूर्वक कारागार में डाल दिया गया है। आगे धर्मराज युधिष्ठर का कहना है कि निरंकुश सत्ताधारी राजा प्रत्येक व्यक्ति को वन्द ताले की भांति करके उसकी चाभी को राजकोष मे जमा कर देता है। कहने का भाव यह है कि प्रत्येक विचारधारा व्यक्ति की स्वयं की अनुभूत न होकर राज्य द्वारा अनुप्रेरित-आदेशित होती है।

विशेष—(१) प्रस्तुत अवतरण में कवि ने सामान्य मानव और सत्ताधारी मानव के अन्तर को स्पष्ट किया है।

(२) राज्य-व्यवस्था मानव को विचारशून्य भी बना सकती है—इस ओर स्पष्ट संकेत किया गया है।

(३) ताले-ताली के विम्ब के माध्यम से लेखक ने सामान्य मानव और सत्ताधारी मानव का अच्छा दिग्दर्शन कराया है।

आज जिस राज्य .... शत्रुता है पार्थ ? (पृष्ठ ११६-११७)

शब्दार्थ—साम्राज्यी=साम्राज्य का। लोलुप=लालची। निरीह=भोले-भाले। भोज्य=भोजन। पार्थ=अर्जुन का एक नाम।

प्रसंग—धर्मराज युधिष्ठर अर्जुन को वतलाते हैं कि सम्राट होने की अपेक्षा मानव होना अच्छा है, मानव का महत्व राज्य की अपेक्षा कही अधिक है। यहां वह उस राज्य व्यवस्था के सम्बन्ध में अर्जुन को वतलाते है जो मानव को पंगु बना देती है। युधिष्ठर का कथन है :

व्याख्या—हे अर्जुन ! हमारे वर्तमान युग में जिस राज्य-व्यवस्था का साम्राज्यी रूप विकसित हो रहा है कालान्तर में, उसमे भिन्न-भिन्न मानवताओं के अनुभव और समाहित हो जाएंगे तब मानवता का जो सम्पूर्ण रूप विकसित होकर हमारे समक्ष आएगा उसे हम किस नाम से अभिहित करेंगे—क्या उसे हम भाषा के ग्रन्थ का नाम देना चाहेंगे और इतिहास के नाम से पुकारना चाहेंगे ? तुम इस सम्वन्ध में स्वयं ही विचार कर देख लो। क्या उसे हम इतिहास-ग्रन्थ कहेंगे जिसमें राज्य-प्राप्ति के इच्छुक नृशंस और अत्याचारियों-राजा महाराजाओं का वर्णन होगा अथवा उसे हम भाषा-ग्रन्थ स्वीकार करें जिसमें अनाम और भोले-भाले साधारण जनों का मौन प्रतिरोध होगा जिन्होंने

राजा और राज्य-व्यवस्था के अनाचारों-अत्याचारो को मौन होकर सहा है और विरुद्ध आवाज तक नही उठाई है। हे अर्जुन! क्या कभी इस ओर भी तुमने ध्यान दिया है? हे अर्जुन! तुम इस प्रकार से राज्य-व्यवस्था की स्थापना करके भेड़ियो के समान इन राज्याधिकारियों को क्यों इतना महत्व दे रहे हो जिससे ये भोली-भाली जनता को अपना भोज्य पदार्थ मानकर खा ले। अर्थात् ये सत्तालोलुप राज्याधिकारी तो सदैव निरीह और भोली-भाली जनता को कष्ट और पीड़ा देते ही रहते है जो किसी भी दृष्टि मे औचित्यपूर्ण नही कहा जा सकता है। तुम्हारी साधारण मानव से ऐसी कौन-सी शत्रुता है जिसका बदला तुम इस व्यवस्था को देकर चुकाना चाहते हो।

विशेष (१) प्रस्तुत अवतरण मे कवि ने मानव एवं मानवीय गुणो की प्रतिष्ठा की है।

(२) भाषा भावाभिव्यक्ति में पूर्णतः सक्षम है।

मैं जानता हू ..... परिणत हो जाएगी। (पृष्ठ ११७-११८)

शब्दार्थ - प्राप्य=जो प्राप्त हो। अप्राप्य=जो प्राप्त न हो। अर्धदीप्तित=आधा चमकता रहता है। गवाक्ष=झरोखे छोटी खिडकी। गोपनीय=छुपाए जाने वाले, कॉनफीडैन्शल। वशीकरण=वश मे करना। आकण्ठ=कण्ठ तक, सम्पूर्ण रूप मे। मदांध=मद से अन्धे। द्यूत=जुआ। परिणत=बदल जाना।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण में युधिष्ठर मानवीय कृत्यो और राज्य-व्यवस्था पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करते हुए अर्जुन से कहते है .

व्याख्या—हे अर्जुन! मुझे यह भली प्रकार अवगत है कि प्राप्त अथवा अप्राप्त होने पर भी सत्ता का माणिक भवन–वैभव और सम्पत्ति–हमारे मन में उत्तेजना भरता रहता है, हम उसी की चकाचौंध मे भ्रमते रहते हैं, और अर्धदीप्तित माणिक-भवन के गवाक्ष से सत्ता की विपकन्या गोपनीय रूप में कुटिल संकेतों के रूप मे अपना वशीकरण डालती है और हम सब उसमें आकण्ठ निमग्न हो जाते है, सत्ता प्राप्ति की इच्छा हममे जाग्रत हो जाती है। जैसे ही हमे सत्ता, वैभव और सम्पत्ति आदि की प्राप्ति हो जाती है वैसे ही हम मोहाध होकर सत्ता के केन्द्र तक पहुँचने के लिए-- सर्वोपरि महत्व प्राप्त करने के लिए—धर्म, दर्शन, न्याय और शास्त्र की व्याख्या और विवेचना अपने स्वयं के हित के अनुसार करने लगते है। कहने का भाव यह है कि सत्ता-लालुप

व्यक्ति धर्म, दर्शन, न्याय आदि की व्याख्या अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए अपने ही अनुसार करते हैं। क्या तुम सत्ता के अन्ध जुए के व्यापार को देख रहे हो ? अर्थात् सत्ताधारी ने जुए का खेल रचाकर क्या गुल खिलाए—सम्भवतः यह तथ्य किसी से छिपा नही है। हे अर्जुन ! तुम इस बात का विश्वास रखो कि राज्य या राज्य-व्यवस्था सम्पूर्ण मानवता और समाज का प्रतिनिधित्व करेगी तो यह सम्पूर्ण पृथ्वी एक बड़े कारागार के रूप में परिवर्तित हो जाएगी।

विशेष—(१) यहाँ यही स्पष्ट किया गया है कि मानव अपने ढंग से धर्म, दर्शन, न्याय आदि की व्याख्या करके अपने को सत्ता के मूल में ले आया है।

(२ यहाँ कवि ने यह भी भलीभांति स्पष्ट किया है कि यदि राज्य सर्व-शक्तिमान हो जाएगा तो इससे अत्याचार-अनाचार ही बढ़ता है।

प्रलय जल के .... करने लगता है। (पृष्ठ ११८)

शब्दार्थ—प्रलय-जल=प्रलय काल का जल-प्रवाह, जो बहुत तेज हो जाता है। अरण्य=वन।

प्रसग - धर्मराज युधिष्ठर का अर्जुन के प्रति कथन है कि सर्वशक्तिमान के सम्मुख उसी का अस्तित्व रह जाता है। अपने कथन को वह प्रलय-जल के उदाहरण से स्पष्ट करते हुए अर्जुन से कहते हैं :

व्याख्या—हे अर्जुन ! प्रलय काल में चारों ओर जल ही जल हो जाता है। उसके तीव्र प्रवाह मे व्यक्ति, नगर, वनस्पति और वन—सभी की सत्ता समाप्त हो जाती है, सभी जल में विलीन हो जाते हैं। केवल मात्र जल ही रह जाता है जो समस्त सृष्टि का प्रतिनिधित्व करता है। कहने का भाव यह है कि जिस प्रकार प्रलय काल में जल ही शेष रह जाता है, वही सर्वशक्तिमान हो जाता है उसी प्रकार राज्य-सत्ता के सम्मुख सभी मानवीय अस्तित्व समाप्त हो जाते हैं।

विशेष— (१) प्रस्तुत अवतरण में कवि ने जल-प्रलय के माध्यम से राज्य सत्ता की शक्ति और उसके प्रभाव की ओर संकेत किया है।

(२) **अलंकार** - अन्योक्ति।

व्यक्ति, व्यवस्था के ...... होना चाहिए। (पृष्ठ ११८)

शब्दार्थ—विलीन=समाप्त होना।

प्रसंग—धर्मराज युधिष्ठिर ने अर्जुन को बतलाया कि राज्य-व्यवस्था के सम्मुख व्यक्ति का व्यक्तित्व और सत्ता समाप्त हो जाती है। इस पर अर्जुन अपनी जिज्ञासा व्यक्त करते हुए धर्मराज युधिष्ठिर से कहते हैं :

व्याख्या—हे युधिष्ठिर ! शक्तिशाली राज्य-व्यवस्था के सम्मुख व्यक्ति, उसका व्यक्तित्व, उसका अस्तित्व सदा-सदा के लिए समाप्त न हो जाए, इसके लिए किन उपाय का अवलम्ब लेना उचित होगा ? कृपापूर्वक इस पर प्रकाश डालें।

विशेष—(१) प्रस्तुत अवतरण में व्यक्त जिज्ञासाएं सभी की जिज्ञासाएं हैं और इसी में कवि का व्यक्तित्व स्पष्ट हुआ है।

(२) अर्जुन के माध्यम से जिज्ञासा को प्रस्तुत किया गया है।

ऐसा न हो··· ···············सालता रहा है। (पृष्ठ ११८-११९)

शब्दार्थ—कामना=इच्छा। प्रतिव्यवस्था=व्यवस्था के स्थान पर अन्य व्यवस्था। आश्वासन=भरोसा दिलाना, विश्वास दिलाना, आश्वासन। सालता=कचोटना, कष्ट देना।

प्रसंग—अर्जुन का कहना है कि व्यक्ति के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए किन-किन उपायों का आश्रय लेना चाहिए ? अर्जुन के इसी प्रश्न का उत्तर देते हुए धर्मराज युधिष्ठिर कहते है :

व्याख्या—हे अर्जुन ! राज्य-व्यवस्था के सम्मुख व्यक्ति का व्यक्तित्व और अस्तित्व समाप्त नही होना चाहिए इसकी मैं मात्र कामना ही कर सकता हूँ। मात्र इस प्रकार की कामना करने का कारण यही है कि प्रतिव्यवस्था—एक व्यवस्था को समाप्त कर उसके स्थान पर दूसरी व्यवस्था देना—का आश्वासन किसी भी स्थिति में नही दिया जा सकता। कौन कह सकता है कि प्रतिव्यवस्था पूर्व व्यवस्था से अच्छी होगी, बुरी और खराब भी हो सकती है। इस सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक तो कुछ भी नही कहा जा सकता। आगत भविष्य और उसकी सम्भावनाओ के सम्बन्ध में हम सोच-विचार तो कर सकते है किंतु उनका निर्माण करे, पूर्णतः सम्भव नहीं है। यह तो उस समय के वातावरण और परिस्थितियों पर ही निर्भर करेगा।

हे अर्जुन ! इसके अतिरिक्त एक प्रश्न और भी है जो निरन्तर मेरे मन को कचोटता रहता है, मुझे आकुल-व्याकुल बनाए रखता है।

विशेष—(१) प्रस्तुत अवतरण में कवि ने भविष्यवाणी न करने की

यथार्थता को स्पष्ट किया है।

(२) मानव के मन मे समय-समय पर भिन्न प्रकार के प्रश्न उठते रहते है—यहाँ इसी तथ्य की ओर इंगित किया गया है।

(३) भाषा सशक्त एवं प्रवाहपूर्ण है।

विवेक का तर्क ....कहीं न निगल जाय। (पृष्ठ ११९-१२०)

शब्दार्थ—स्वर्ण=सोना, हरा-भरा। क्षार=राख, मिट्टी। मेधावी=बुद्धिमान। विवशता=लाचारी, अवशता। पोत=जलयान। छिद्र=छेद। काया=शरीर, आकार। निगल=डुबा देना। मनस्वी=ऊंचे मन वाला।

प्रसंग—अर्जुन का धर्मराज युधिष्ठर के प्रति कथन है कि हे बन्धु! आप तो सम्पूर्ण जीवन में प्रश्नों से ही उलझे रहे हैं। अब वह कौन-सा प्रश्न है जो आपको व्यथित किए हुए है? इस पर धर्मराज युधिष्ठर का अर्जुन के प्रति कथन है :

व्याख्या—हे अर्जुन! विवेकपूर्ण तर्क ही तो प्रश्न का रूप धारण कर लेता है। इसी का आधार ग्रहण कर या तो मानव सोने की भांति खरा और महत्वपूर्ण सिद्ध हो जाता है अथवा फिर मानव राख की भाँति महत्वहीन अथवा विनष्ट हो जाता है। क्या तुम जानते हो कि मेरे सम्मुख ऐसा कौन-सा प्रश्न है जो मुझे बराबर कचोट रहा है, मुझे आकुल-व्याकुल बनाए हुए है, हे अर्जुन! वह प्रश्न है—गुरु द्रोणाचार्य जैसे मेधावी व्यक्ति की विवशता। विवेक-युक्त बुद्धि रहते हुए भी उन्हें दुर्योधन के कथनानुसार कार्य करते हुए युद्ध के लिए तत्पर होना पड़ा। गुरु द्रोणाचार्य का अस्तित्व किन्ही करणों से राज्य-व्यवस्था के नियन्त्रण में दब गया, जो औचित्यपूर्ण नहीं कहा जा सकता। एक विशाल जलयान में यदि कहीं कोई छिद्र हो तो उस छिद्र की ओर किसी का ध्यान नही जाता है किन्तु एक दिन ऐसा भी आता है जबकि सारा समुद्र अपने आपको उस छिद्र के माध्यम से विशाल जलपोत में प्रविष्ट कर देता है, यद्यपि होता ऐसा क्रमशः धीमी गति से ही है, तथा एक स्थिति ऐसी भी आती है जब कि वह विशाल जलपोत सम्पूर्णतः समुद्र के अगाध जल मे समाधि ले लेता है, निमग्न हो जाता है। ठीक इसी प्रकार द्रोणाचार्य की विवशता भी वैसे ही छिद्र के समान है जिसमे विशाल-पोत रूपी मनस्वी मेधा सदा-सदा के लिए ही समाप्त न हो जाए। युधिष्ठर का कहना है—हे अर्जुन! मुझे यह बराबर भय बना हुआ है कि सुदूर भविष्य मे कहीं यह राज्य-व्यवस्था सम्पूर्ण

समाज एवं उसकी मनस्वी मेधा शक्ति को ही सदा-सदा के लिए समाप्त न कर दे।

विशेष—(१) यहां द्रोणाचार्य के माध्यम से विवश प्राणी द्वारा राज्य-व्यवस्था के अनुसार कार्य करने पर बाध्य होने की बात कही गयी है।

(२) जलपोत, छिद्र और समुद्र के माध्यम से राज्य-व्यवस्था, मानवता आदि को स्पष्ट करने में कवि को पूर्ण सफलता मिली है।

समस्त शास्त्रज्ञता ...... उत्तरदायी है पार्थ। (पृष्ठ १२०-१२१)

शब्दार्थ—शास्त्रज्ञता=शास्त्र का पूर्ण ज्ञान। यशस्वी=यशवान। असीम=सीमा रहित। दारिद्र्य=गरीबी, निर्धनता।

प्रसंग--प्रस्तुत अवतरण में धर्मराज युधिष्ठिर द्रोणाचार्य की विवशता के माध्यम से विवश लोगों की स्थिति को स्पष्ट करते हुए अर्जुन से कहते है :

व्याख्या—हे अर्जुन ! गुरु द्रोणाचार्य सभी शास्त्रो के ज्ञाता थे, ज्ञान के पण्डित थे और थे परम तेजस्वी। इतने यशस्वी होने के बावजूद भी वह अपनी एकमात्र सन्तान को दूध तक उपलब्ध न कर सके। उस समय द्रोणाचार्य के मन मे उस अभाव को लेकर जो हा-हाकार मचा होगा, जो असहनीय पीड़ा उत्पन्न हुई होगी, क्या तुमने कभी इसकी कल्पना भी की है ? जब उनका एकमात्र पुत्र आटे को ही दूध समझकर पीता रहा होगा उस समय परिस्थिति की विवशता के कारण उनके मन पर क्या गुज़र रही होगी—क्या कभी इस पर भी तुमने विचार किया है ? राज्य-व्यवस्था के नियन्त्रण में नियंत्रित होकर द्रोणाचार्य कितने विवश हो गए थे, किस पर उनका अस्तित्व समाप्त हो गया था—क्या इस पर भी तुमने अपना ध्यान केन्द्रित किया है ? द्रोणाचार्य कितनी असीम प्रतिभा से युक्त थे। और उन्होने कितना घोर दारिद्र्यमय जीवन व्यतीत किया ? हे अर्जुन ! तुम्ही बताओ कि इसके लिए कौन उत्तरदायी है ? राज्य-व्यवस्था, परिस्थिति अथवा उनकी स्वयं की नियति ? तुम स्वयं ही इस पर सोच-विचार कर तो देखो ?

विशेष—(१) युधिष्ठर के शब्दों मे, राज्य-व्यवस्था ही साधारण व्यक्ति को विवश बना देती है—इस ओर कवि ने स्पष्ट संकेत किया है।

(२) भाषा भावाभिव्यक्ति मे पूर्णतः सक्षम है।

तब दुर्योधन की अधीनता...... ...सौंप देना पड़ा। (पृष्ठ १२१)

शब्दार्थ—आधीनता=परवशता, अधिकार में। विषमता=असमानता।

सात्विक=सद्गुणों के भावों से युक्त। मेधावी=मनस्वी, बुद्धिमान्।

प्रसंग—अर्जुन ने गुरु द्रोणाचार्य के दारिद्र्य एवं विवशता के लिए उनके भाग्य को उत्तरदायी ठहराया। इसी का प्रतिवाद करते हुए धर्मराज युधिष्ठर कहते हैं :

व्याख्या—हे अर्जुन ! तुम यह स्वीकार करते हो कि गुरु द्रोणाचार्य के दारिद्र्य एवं विवशता के लिए उनका भाग्य उत्तरदायी है। दूसरे शब्दों में, जब उनके भाग्य में दुःख और दारिद्र्य ही उठाना लिखा है जब इसमें कोई कर ही क्या सकता है। यदि तुम्हारा यह कथन ठीक है तब तुम स्वयं ही सोच-विचार कर देखो कि तुमने दुर्योधन की आधीनता को फिर भाग्य के रूप में क्यों नहीं स्वीकार किया ? तुम्हें भी भाग्य की विडम्बना मानकर उसे स्वीकार करना चाहिए किंतु तुमने यह सब नही माना और अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए युद्ध करने को तत्पर हुए। क्या तुम्हारी कथनी और करनी में असमानता नही है ? वास्तविकता यह है कि द्रोणाचार्य की इस विषमता के लिए—दुःख, दारिद्र्य और परवशता के लिए—राज्य-व्यवस्था ही पूर्णतः दोषी है। इस दूषित और स्वार्थी राज्य-व्यवस्था ने ही उस नेक, ईमानदार, सात्विक भावनाओं से सम्पन्न एवं परम बुद्धिमान व्यक्ति को इस करुण और दयनीय स्थिति तक पहुँचाया और अपने जीवन-निर्वाह के लिए उन्होंने अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व-अस्तित्व, ज्ञान और विवेक सभी कुछ तो राज्य को सौंप दिया। इस प्रकार वह जो कुछ भी सोचते और करते थे राज्य से अनुप्राणित होकर राज्य के लिए ही करते थे। एक वाक्य मे गुरु द्रोणाचार्य ने राज्य-व्यवस्था के समक्ष अपना सब कुछ समर्पण कर दिया था।

विशेष—(१) यहां मानव की परिस्थितियों के लिए राज्य-व्यवस्था को उत्तरदायी ठहराया गया है।

(२) युधिष्ठर का विवेक उनके ऐतिहासिक चरित्र के अनुरूप ही है।

अभिमन्यु का सामूहिक ···पड़ा सव्यसाची। (पृष्ठ १२१-१२२)

शब्दार्थ—वध=हत्या। अनाचार=नीति विरुद्ध कार्य। विवश=लाचार। भरण-पोषण=पालन-पोषण, जीवन-निर्वाह।

प्रसंग—धर्मराज युधिष्ठर ने गुरु द्रोणाचार्य की दीनता-विवशता के लिए निर्दयी राज्य व्यवस्था को उत्तरदायी ठहराया। यहाँ इसी तथ्य को एक अन्य प्रमाण से प्रस्तुत करते हुए वह अर्जुन से कहते हैं :

व्याख्या—हे अर्जुन ! उस महाभारत के नर-संहारक महायुद्ध में अभिमन्यु का सामूहिक रूप से वध किया गया—सप्त महारथियों ने धर्मयुद्ध के नियमों की पूर्णतः अवहेलना कर उस वीर युवा को प्राण-त्यागने के लिए विवश किया। इतना ही नही, कुरुक्षेत्र के उस भयानक युद्ध में अनेक अत्याचार और नीति-विरुद्ध कार्य किए गए—यहाँ उन सबका विवरण देने की आवश्यकता नही, तुम्हे उन सबका ज्ञान है। और यह सब गुरु द्रोणाचार्य, जो ज्ञानवान्, धार्मिक और सात्विक गुणों से सम्पन्न थे, अपनी आँखों के सामने होते हुए देखते रहे--वह मौन रहे और किंचित् भी उसका प्रतिरोध नहीं किया। वह विवश थे। कारण स्पष्ट है क्योंकि राज्य उनका भरण-पोषण कर रहा था। पेट की भूख को मिटाने के लिए रोटी के टुकड़ों के लिए उन्होंने राज्य और राज्य-व्यवस्था के समक्ष अपने घुटने टेक दिये थे। राज्य ने उनका भरण-पोषण कर उनको निःसत्व और व्यक्तित्वहीन बना दिया था। तुम स्वयं ही सोचकर देखो कि द्रोणाचार्य जैसे एक विवेकवान् व्यक्ति को कितना बड़ा मूल्य चुकाना पड़ा। वह अत्याचार होता हुआ देखकर भी उसका प्रतिरोध नही कर सके।

विशेष—(१) राज्य द्वारा अपने लिए सब कुछ कराने की शक्ति का वर्णन यहाँ किया गया है।

(२) राज्याश्रय द्वारा प्रदत्त विवशता में विवेकशील व्यक्ति का विवेक समाप्त हो जाता है, यहाँ उसकी ओर स्पष्ट संकेत किया गया है।

इसे मात्र संयोग ·······बनकर रह गये। (पृष्ठ १२२)

शब्दार्थ—मात्र=केवल। अनिवार्य=आवश्यक। स्वतंत्र चेता=मनीषी, स्वतंत्रतापूर्वक सोचने वाला। आहुति=यज्ञ मे डाली जाने वाली सामग्री, समाप्त कर देना। क्रीतदास=क्रय किया गया। भागवत्=धार्मिक; श्रेष्ठ, अठारह पुराणों मे से एक, जिसमे श्रीकृष्ण की कथा वर्णित है। अर्थहीन=महत्वहीन, व्यर्थ।

प्रसंग—अर्जुन के शब्दों मे, गुरु द्रोणाचार्य की दीनता और परवशता मात्र एक संयोग है। धर्मराज युधिष्ठर इसे मात्र सयोग न मानते हुए अर्जुन से कहते है :

व्याख्या—हे अर्जुन ! तुम गुरु द्रोणाचार्य की दीनता और परवशता को मात्र एक संयोग मानते हो—यह तुम्हारा भ्रम है। इसे मात्र एक संयोग कहकर मत टालो। वास्तव मे, यह तो राज्य-व्यवस्था का एक अनिवार्य अंग है। परम

मेधावी और विवेकशील द्रोणाचार्य को विवश होकर युद्ध में हुए अनेक अत्याचारों-अनाचारों को देखना पड़ा—विवेक का इतना बड़ा मूल्य चुकाने के लिए संयोग नहीं होता, अपितु इस प्रकार से विवेक का हरण कर विवश बनाना राज्य-व्यवस्था का एक आवश्यक अंग है। अभी तो राज्य-व्यवस्था का श्रीगणेश ही है और उसके आरम्भ होते ही गुरु द्रोणाचार्य जैसे स्वतंत्र-चेता पुरुष को निष्क्रिय बना दिया गया—द्रोणाचार्य की आहुति दे दी गयी राज्य-व्यवस्था को सुदृढ बनाने के लिए। राज्य ने अनेक षड्यन्त्र रचे, कुचक्रों का जाल बुना और उस मेधावी व्यक्ति को अपने लाभ के लिए उनमें मिलने के लिए विवश कर दिया जिसमें उसका अपना स्वतंत्र अस्तित्व ही समाप्त हो गया और उसे एक क्रय किए हुए दास से अधिक महत्व नहीं दिया गया। अर्थात् जिस प्रकार एक क्रय किए हुए दास से जैसा कार्य चाहो कराओ उसी प्रकार के कार्य गुरु द्रोणाचार्य से भी कराये गये, कारण, उस समय वह विवश थे। महात्मा विदुर एक ज्ञान-सम्पन्न व्यक्ति थे किंतु कौरव पक्ष के किसी भी व्यक्ति के मन में उनके प्रति आदर का भाव विद्यमान नही था अर्थात् उनके कथन के अनुसार कोई भी कार्य करने के लिए तत्पर नही था यद्यपि विदुर राजवंश से सम्बन्धित थे किंतु राज्य की उन पर कृपादृष्टि नही थी, यही कारण है कि परम भागवत् एवं धार्मिक महात्मा विदुर का चरित्र मूल्यवान् नही बन सका—वह एक अर्थहीन चरित्र मात्र बनकर रह गए अर्थात् अपना मूल्यवान् ज्ञान वह क्रिया रूप में परिणत नहीं कर पाए।

विशेष—(१) राज्य-व्यवस्था की यह विशेषता है कि वह परम बुद्धिजीवी पर अहसान करके उसे अपनी ओर मिला लेती है और तदुपरान्त उसी के आश्रय से अपनी स्वार्थ की सिद्धि करती है।

(२) राज्य-व्यवस्था की निरंकुशता और स्वार्थता का यहाँ खुला चित्रण है।

(३) भाषा भावाभिव्यक्ति में पूर्णतः समक्ष है।

प्रत्येक व्यवस्था के ...... **हो जाता है। (पृ० १२३)**

शब्दार्थ—बघनख=बाघ के नाखून, यहाँ व्यंजना से भयानक साधन। **पंगु**=बिना पैर वाला, साधनविहीन। अग्नि-व्यक्तित्व=तेजवान् व्यक्तित्व। निरंकुशता=जिस पर अंकुश न रहे, नियंत्रणहीन। दुर्विनीति=अविनीत, दुष्ट। मनुष्यत्व=मानवीयता।

प्रसंग – प्रस्तुत अवतरण में धर्मराज युधिष्ठर राज्य-व्यवस्था की निरंकुशता पर प्रकाश डालते हुए अर्जुन से कहते हैं :

व्याख्या– हे अर्जुन ! राज्य-व्यवस्था चाहे कैसी भी हो अथवा शासक कोई भी हो, सबके अपने-अपने साधन होते हैं। इन साधनों से शासक जो चाहता है, जैसा चाहता है, करा लेता है। आने वाले काल में यह सम्भव है कि राज्य-व्यवस्था अपने समाज के सभी स्वतन्त्र विचार रखने वाले प्राणियों को या तो सदा-सदा के लिए ही समाप्त कर देगी अथवा इन्हें इतना विवश और पंगु—साधनहीन— बना देगी कि उनका तेजोद्दीप्त व्यक्तित्व अंकुशविहीन राज्य-व्यवस्था को किसी प्रकार की चुनौती न दे पाए। कौरव-पक्ष में मात्र दुर्योधन ही दुर्विनीत एवं दुष्ट नहीं था, दुष्ट तो और भी बहुत थे किंतु सत्ता का मुकुट मिलने पर कोई भी व्यक्ति मानवीय गुणों का परित्याग करके दुष्ट बन जाता है अथवा बन सकता है। कहने का अभिप्राय यह है कि सत्ता मिलने पर व्यक्ति उसका दुरुपयोग करने की ओर भी प्रवृत्त हो जाता है।

विशेष – (१) प्रस्तुत अवतरण में कवि ने यह व्यक्त किया है कि सत्ता मिलने पर व्यक्ति के मन में निरंकुशता का भाव आ जाता है और वह अपने स्वार्थ सिद्धि के लिए उसका दुरुपयोग करना प्रारम्भ कर देता है। कवि तुलसी ने भी रामचरितमानस में इसी प्रकार के भाव व्यक्त किए हैं।

(२) प्रस्तुत अवतरण में यह भी स्पष्ट किया गया है कि प्रत्येक युग की व्यवस्था अपने साधन रखती है और उसके आधार पर बुद्धिजीवियों को अपने वश में रखने का अनवरत् प्रयास करती है।

क्या अब भी ·· · ····· प्रतीति है अर्जुन। (पृष्ठ १२३-१२४)

शब्दार्थ—परित्याग=त्यागना, छोड़ना। वांछा=इच्छा, अभिलाषा। प्रज्ञा=बुद्धि। अच्युत=जो गिरा हुआ न हो, जो अपने स्वरूप, सामर्थ्य और स्थान से अलग न हुआ हो, जो निर्विकार हो। अनस्पर्शी=बिना स्पर्श की हुई, बिना छुए हुए। आरोहण=चढ़ना। दुर्गम=अत्यन्त कठिन। स्वर्गारोहण=स्वर्ग के लिए प्रस्थान। अभिन्न=जो अलग न हो। बान्धवता=भाई-चारा, भाइयों के प्रति प्रेम, भाई जैसा प्रेम। रागात्मक=प्रेम से पूर्ण। वहन=सहना, ढोता हुआ। प्रतिक्षण=प्रत्येक समय। विसर्जित=समर्पित, समाप्त हो रहा है। विराट्=महान्। प्रतीति=विश्वास।

प्रसंग—युधिष्ठर अर्जुन को राज्य-व्यवस्था के दोष-दर्शन कराते हुए अपने

राज्य-परित्याग के औचित्य को सिद्ध करते हैं :

व्याख्या—हे अर्जुन ! राज्य-व्यवस्था के दोषों, कुरुक्षेत्र के नर-संहारक युद्ध के दुष्परिणामों और मेरे विचारों को जानने के पश्चात् भी क्या तुम्हें ऐसा लगता है कि मैंने राज्य का परित्याग करके भूल की है, कोई विरुद्ध कार्य किया है ? मैंने राज्य-त्याग करने में कोई भूल नहीं की है। मैंने अपने वैचारिक व्यक्तित्व को किसी भी अन्य विचारधारा से प्रभावित नही होने दिया है, धुंधला नही पड़ने दिया है। मैंने स्वयं ही राज्य-व्यवस्था और व्यक्तित्व के स्वतंत्र अस्तित्व को लेकर विचारों का मंथन किया है और उसी के परिणाम-स्वरूप राज्य-त्यागने में ही जीवन की परम सार्थकता अनुभव की है। मैंने अपनी विवेक-बुद्धि के तेज को किसी सम्बन्ध, किसी पद, किन्ही परिस्थितियों और किसी भी तीव्र मनोकामना से प्रभावित नही होने दिया है। मैंने अपनी प्रज्ञा-अग्नि को इन सबके स्पर्श से—प्रभाव से—मुक्त रखा है। हे बंधु अर्जुन ! मैंने अपने अच्युत व्यक्तित्व की अन-स्पर्शी इस विवेक बुद्धि—प्रज्ञा अग्नि को उस विराट् एवं महान् ईश्वर को—जगन्नयिन्ता को लौटा देने के लिए ही राज्य का परित्याग करके हिमालय के शिखर की यात्रा की है। हमारा जीवन महान् मे विसर्जित होना चाहता है। मुझे यह भली प्रकार अवगत है कि इस दुर्गम स्वर्ग की यात्रा में मेरा यह अच्युत व्यक्तित्व विसर्जित हो रहा है—वह अच्युत व्यक्तित्व जिसने मेरे अभिन्न अंगो के समान एक-एक करके समस्त सामारिक सम्बन्धों को, आत्मीयता और बाधवता को रागात्मक और प्रेमयुक्त संसार को, रागात्मक ससार की मधुर स्मृतियों को वहन किया है। यही मेरा अनस्पर्शी अच्युत व्यक्तित्व प्रतिक्षण हिम में ही विसर्जित होता जा रहा है। हे अर्जुन ! तुम यह सत्य मानो कि मुझे मृत्यु के इस विराट नाटक की पहले से ही प्रतीति थी। हमारे जीवन का अंत कैसे होगा, मै यह सब पहले से ही भली प्रकार से जानता था। मुझे इसमें कोई आश्चर्य अनुभव नहीं हो रहा है, भले ही तुम्हें इसमें आश्चर्य लगता हो।

विशेष—(१) प्रस्तुत अवतरण में धर्मराज युधिष्ठर ने राज्य-त्याग का औचित्य सिद्ध किया है।

(२) पूर्ण मानव वही होता है जो अपने विवेक को अप्रभावित रखता है—यहां इसी तथ्य की ओर कवि ने संकेत किया है।

(३) युधिष्ठर की चारित्रिक दृढ़ता यहां व्यक्त हुई है।

पूर्ण प्रतीति !!............स्वर्गारोहण है !! (पृष्ठ १२५)

शब्दार्थ—प्रतीति=ज्ञान, विश्वास। क्षय=विनाश। गैरिकता=गेरुए रंग का। परिधान=वस्त्र। धारणकर्त्ता=पहनने वाला। अहोरात्र=दिन-रात। आरात्रिक=आरती करने वाला व्यक्ति, आरती के लिए धूप, दीप आदि रखने का आधान अथवा पात्र। स्वत्व=अधिकार। पार्थिव=लौकिक, सासारिक। स्वाहाभाव=अपनी अन्तिम आहुति देने का भाव।

प्रसंग—प्रस्तु अवतरण में धर्मराज युधिष्ठिर अर्जुन को स्वर्गारोहण के सम्बन्ध में बतलाते हुए कहते है :

व्याख्या—हे अर्जुन ! मैं तुम्हें यह भलीभाति स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि मुझे मृत्यु के विराट् नाटक का भलीभांति ज्ञान है। हमारा अन्त कैसा होगा यह तथ्य मुझ से छिपा नही है। विभिन्न नामों को धारण करने वाला यह व्यक्तित्व ही आज विनष्ट हो रहा है। अपनी प्रज्ञा-अग्नि अथवा विवेक-बुद्धि को बचाने के लिए, अनस्पर्शी रखने के लिए, उसके अनुसार कार्य करने के लिए व्यक्ति को भारी मूल्य चुकाना पड़ता है—बडे संभल कर साहस के साथ कार्य करना होता है। हे अर्जुन ! सन्यासी बनने पर सन्यास-वस्त्रों का गेरुआ रग तो मात्र वस्त्रों के लिए ही है, किंतु जो व्यक्ति उन गेरुए वस्त्रो को धारण करता है उसके लिए तो वह गेरुवा वस्त्र अथवा वस्त्रों को गैरिकता कष्ट रूपी ज्वालाओं को वहन करने का निमन्त्रण देती है। कहने का भाव यह है कि सन्यासी संसार की समस्त आशा-अभिलाषाओ को त्याग कर विरक्त-भाव से जीवन का निर्वाह करता है और सुख-दुःख में भी समभाव की स्थिति बनाये रखने का प्रयास करता है। गैरिकता उसके तपोनिष्ठ जीवन जीने की ओर सकेत करती है। हे अर्जुन ! जब व्यक्ति इस अग्नि रूपी अभिषेक के पात्र को अपने स्वत्व मे स्वीकार कर लेता है तब वह व्यक्ति पृथ्वी का एक अंश ही हो जाता है और इस प्रकार से स्वयं पृथिवी ही जब अग्नि में होम होती है तो वह स्वयं पार्थिक रूप धारण कर लेती है अर्थात् अनेक कष्ट सहन करके ही वह अपने वास्तविक रूप मे प्रस्तुत होती है और मानव में जब अपने को होम करने की तीव्र इच्छा जागती है तब वही उसे स्वर्ग की ओर ले जाने का प्रयत्न होती है।

विशेष—(१) यहाँ कष्टों में तपकर मानव के वास्तविक रूप में स्वर्ग के अधिकारी बनने की बात कही गयी है। ये कष्ट अपने विवेकानुसार कार्य करते

हुए जीवन में आते हैं।

(२) अलंकार—अनुप्रास, रूपक।

हिमपात के बाद की·········· हो गए हो। (पृष्ठ १२५-१२७)

शब्दार्थ—हिमपात=वर्फ का गिरना। यहां व्यंजना से विगत पर विचार करने के बाद। धारदार=तीव्र, तेज धार वाली वस्तुओं की भांति तीखी। अभेद्य=जिसे भेदा न जा सके। कालरात्रि=काल रूपी रात्रि के समान। हिमानी=वर्फ से भरी हुई। व्याघ्र=चीता। सहयात्रा=साथ-साथ यात्रा करना। पद-चिह्न=पैरों के निशान। उदार=दयालु। निर्भय=निडर। मृत्युंजयी=मृत्यु को जीतने वाले, अमर।

प्रसंग—धर्मराज युधिष्ठर हिमालय के उच्च शिखर पर और ऊपर की ओर चढते चले जा रहे हैं और अर्जुन के समक्ष अपनी वैचारिकता को भी व्यक्त करते जाते हैं। यहां वह प्रकृति का वर्णन करते हुए अर्जुन से कहते हैं:

व्याख्या–हे अर्जुन! अभी-अभी वर्फ गिरी है और उसके पश्चात् चलने वाली ये हवाएं बहुत ही तीखी और धारदार हो गयी हैं। ये शीत-हवाएं शरीर को उसी प्रकार साल रही हैं जैसे तेज धार वाली वस्तु सालती है। इन शीतल हवाओं में कालरात्रि जैसा शब्दहीन अंधकार भर गया है जो अभेद्य भी है अथवा यह अभेद्य और निःशब्द अंधकार कालरात्रि के सदृश चारों ओर परिव्याप्त होता जा रहा है। मार्ग में चलते हुए पैरों के अत्यन्त निकट ये हिमानी घाटियाँ हैं जो पाताल तक चली गयी है और देखने में वासनापूर्ण नेत्रों के समान संकेत करती हुई जान पड़ती हैं। पाताल तक चली गयी हैं—कहने का अभिप्राय यह है कि ये बहुत गहरी और विस्तृत हैं। यदि एक पग भी इधर-उधर हो जाए तो ये हिमानी घाटियां मृत्यु की घाटियों का रूप ही धारण कर सकती हैं। इस प्रकार जीवन और मृत्यु के मध्य एक पग का फासला ही चल रहा है। एक सीमा तक चले जाने और उसे लाँघ जाने के पश्चात् इस एक पग का कोई महत्व नहीं रह जाता है। वर्फ रूपी चीते के समान यह मृत्यु हमारे साथ-साथ दबे पैरों से यात्रा करती रहती है। यह मृत्यु प्रत्येक क्षण हमारे साथ—अथवा प्रत्येक प्राणी के साथ—यात्रा करती रहती है किंतु अपने पदचिह्न यह कहीं नहीं छोड़ती है—न हिम पर, न आकाश मे और न समय पर ही। कहीं भी तो उसका कोई पद-चिह्न दृष्टिगत नहीं होता है। हे अर्जुन! ऐसे उदार और दयालु प्रकृति के सहयात्री के साथ यात्रा करने में भय करने की

विशेष—(१) प्रस्तुत अवतरण में कवि ने संक्षेप मे अर्जुन के चरित्र पर प्रकाश डाला है। अर्जुन को अपने पुरुषार्थ पर विश्वास था—यहां यही बताया गया है।

(२) युधिष्ठर की वैचारिकता की उच्चता भी प्रकारान्तर से व्यक्त हुई है।

अर्जुन गया युधिष्ठर·················युधिष्ठर। (पृष्ठ १२८)

शब्दार्थ—शेष=बाकी।

प्रसंग—द्रौपदी, नकुल और सहदेव के अनन्तर अर्जुन हिम मे समाधि लेते हैं। यहां अर्जुन की मृत्यु पर अपने विचार व्यक्त करते हुए युधिष्ठर कहते हैं :

व्याख्या—हे युधिष्ठर ! अब तो अर्जुन भी साथ छोड़कर चला गया है। अब शेष रह भी क्या गया है—प्रिया द्रौपदी चली गई, भाई नकुल और सहदेव चले गये, पाण्डवों की शक्ति-स्वरूप अर्जुन भी चला गया। सब कुछ तो चला गया। कुछ भी तो शेष नही रह गया। मात्र भीम शेष है जिनके रूप में पाण्डवता की देह क्षण-अनुक्षण जड़ अथवा चेतना-हीन होती जा रही है और स्वयं युधिष्ठर भी, जो प्रज्ञा-अग्नि के समान हैं, जड़ और चेतनाहीन होता जा रहा है। कहने का भाव यह है कि भीम एवं स्वयं युधिष्ठर के जीवन का अंत भी समीप है, वह शीघ्र ही समाप्त हुआ चाहता है।

विशेष—(१) पाण्डवों का चरित्र यहां महाभारत के अनुसार ही वर्णित हुआ है।

(२) युधिष्ठर विवेकपूर्ण प्राणी के रूप में वर्णित है। व ही 'महाप्रस्थान' काव्य के नायक है और वे ही सभी मे तालमेल बैठाने वाले सूत्र है। उनका महत्व निर्विवाद है।

(३) अलंकार—उपमा।

जाओ जाओ सव्यसाची ···· ···· ही होती है। (पृष्ठ १२६)

शब्दार्थ—उत्तरकार्य=मृत्यु के उपरान्त किए जाने वाले कार्य, क्रिया-कर्म। ऊर्ध्वकामी=ऊपर उठने की कामना करने वाले। आत्मज=पुत्र। वरण=स्वीकारना, ग्रहण करना।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण मे अर्जुन की मृत्यु पर धर्मराज युधिष्ठर का कथन है :

व्याख्या—हे सव्यसाची ! तुम जा रहे हो ! जाओ ! यह हिमालय ही हम सबकी अन्तिम क्रियाकर्म स्वतः ही सम्पन्न करेगा और जो ऊचे विचारों

की इच्छा करता है उसकी अन्त्येष्ठि और उसकी क्रिया-कर्म सम्पन्न करने वाला पुत्र सृष्टि ही तो होती है। और हे अर्जुन ! तुम यह विश्वास रखो कि यह सृष्टि रूपी पुत्र ही हम सबका अन्तिम संस्कार करेगा। हमारे लिए जल का तर्पण करेगा। हम अन्तिम यात्रा पर निकले थे—यात्रा ही स्वीकार की थी तो फिर यात्रा तो पूरी करनी ही है चाहे फिर उसे चलकर पूरा किया जाए अथवा यात्रा करते समय बीच में ही टूटकर समाप्त हो जाएं—जैसे कि सभी पाण्डव एक-एक करके अपना जीवन समाप्त करते जा रहे हैं।

विशेष—(१) यहाँ यह सिद्ध किया गया है कि प्रकृति ही सर्वश्रेष्ठ है और उच्च विचार वाले व्यक्तियों के लिए ही प्रकृति पुत्रवत् होती है।

(२) भारतीय धार्मिक परम्परा की अभिव्यक्ति हुई है।

भीम ! किसी भी·········कहां हैं भीम ? (पृष्ठ १२६-१३०)

शब्दार्थ—पंचतत्व=पाच तत्व—पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश, इन्हीं पाँचों तत्वों के सम्मिलन से मानव-शरीर का निर्माण हुआ है। विघटित =विघटन, समाप्त होना। प्रयोजन=अभिप्राय, आशय।

प्रसंग—अर्जुन की मृत्यु के पश्चात् भीम धर्मराज युधिष्ठर से प्रश्न करना चाहते है किंतु युधिष्ठर उन्हें प्रश्न करने से रोकते है। युधिष्ठर का कथन है :

व्याख्या—हे भीम ! इस समय मुझसे तुम किसी भी प्रकार का प्रश्न मत करो। यदि विना किसी समुचित समाधान अथवा उत्तर प्राप्त किए तुम अपने से ही प्रश्न अथवा जिज्ञासा कर सकते हो, तो तुम करो। मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं होगी। जिस प्रकार से शरीर के पांचों तत्व क्रमशः निष्क्रिय होकर समाप्त होने लगते हैं उसी प्रकार यह पाण्डवता भी क्रमश: विघटित होकर, टूटकर अंत को प्राप्त होने वाली है। कहने का अभिप्राय यह है कि मैं और तुम केवल दो ही तो पाण्डवता के रूप में बचे हुए हैं, शेष तो क्रमशः समाप्त हो गये है और अव हम दोनों का अंतिम समय भी अत्यन्त समीप है। इस स्थान पर इस समय यहां किसी प्रकार का प्रश्न करना संभव ही नहीं है। आगे युधिष्ठर का कथन है—हे भीम ! हम लोग विभिन्न प्रकार के नाम और रूप धारण करके कुछ विशेष कार्य सम्पन्न करने के लिए ही यहाँ आये थे और अब जब हमारा प्रयोजन ही समाप्त हो चुका है तव हम प्रश्न करने के लिए भी शेष नहीं रह गए हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि हमारा प्रयोजन चुक गया है, अब प्रश्न और उनके उत्तर अथवा किसी प्रकार की जिज्ञासा और

उसके समाधान की आवश्यकता भी नही रह गयी है।

विशेष—(१) यहाँ धर्मराज युधिष्ठर उसी प्रकार से बातें करते है जैसे उनका संसार मे आने का प्रयोजन समाप्त हो गया है।

(२) युधिष्ठर के चरित्र मे परिस्थितियों के अनुसार विचारो में परिवर्तन भी स्पष्टत. परिलक्षित होता है।

बन्धु ! अब नहीं······· पर लौटती नहीं। (पृष्ठ १३०-१३१)

शब्दार्थ—सम्पूर्ण=पूरी, सारी। देह=शरीर। व्रणों=घावों। चर्मपादुकाएं=चमड़े की जूतिया। विलीन=अन्तर्निहित, मिटे हुए। आभास=झलक, चमक।

प्रसंग—धर्मराज युधिष्ठर भीम को बतलाते है कि अब हम प्रश्न करने के लिए शेष नही रह गए है। भीम भी निरन्तर हिमालय के उच्च शिखर पर चढते-चढ़ते थक गए हैं। उनका युधिष्ठर से कहना है :

व्याख्या—हे बन्धु ! मुझ से अब आगे नही चला जा रहा है। कारण यह है कि मेरी आँखो, मेरे कानों और मेरे सम्पूर्ण शरीर के सभी अवयव शिथिल हो गये है। लगता है जैसे इन सब मे बर्फ भर गई हो, जिसके कारण ये सभी शरीरांग निष्क्रिय हो गए है। यह बर्फ न केवल मेरे शरीर के घावों को ही काटकर शांत हो रही है वरन् मेरे शरीर की सभी शिराओं और उपशिराओं को घोड़े के बाल की तरह खडा चीर रही है। जिस प्रकार घोडे का बाल किसी वस्तु को चीर देता है उसी प्रकार यह बर्फ भी शरीर की शिरा और उपशिराओं को काट रही है—गला रही है, जमा रही है। मेरे पैर बहुत ही वजनदार हो गये हैं, ऐसा प्रतीत होता है जैसे प्रत्येक पग से एक हिमालय को बांध दिया गया हो। चमड़े से बनी हुई जूतियाँ पैरों से चिपक कर ऐसी प्रतीत होती है मानो वह स्वयं ही पैर हो गयी हो। वास्तविकता तो यह है कि उनके तले बर्फ में गलकर न जाने कबके नष्ट हो गये है और ऊपर का हिस्सा खोखला होकर पैरों के साथ जुड़ गया है, चिपक गया है और श्वास भी आकाश में उसी प्रकार विलीन होती जा रही है जिस प्रकार कोई पक्षी आकाश में विलीन हो जाता है। मुझे श्वास रहने का आभास तो हो रहा है किंतु मेरी श्वास लौटकर नही आ रही है। कहने का अभिप्राय यह है कि मुझे श्वास लेने मे अधिक कठिनाई का अनुभव हो रहा है।

विशेष—(१) भीम के स्वय के कथन से यह आभासित होता है कि

उनका अंत समीप ही है।

(२) अलंकार—उपमा और उदाहरण।

अब नहीं चला ....अब नहीं!! (पृष्ठ १३१)

शब्दार्थ—धर्मराज=युधिष्ठर। शिखर=चोटी। शयन-कक्ष=सोने का कमरा। गवाक्ष=झरोखा, खिड़की। अवरुद्ध=रुकना।

प्रसंग—भीमसेन का अन्तिम समय समीप है। शरीर के विभिन्न अंगो-उपांगों ने साथ छोड़ना प्रारम्भ कर दिया है। यहाँ तक कि वह अब चलने मे भी अपने को असमर्थ पाते है। यहाँ वह धर्मराज युधिष्ठर को सम्बोधित कर कहते हैं :

व्याख्या—हे धर्मराज युधिष्ठर! मेरे भाई! मुझ से अब नही चला जाता, मैं कितना भी प्रयत्न करता हूं किंतु मुझसे आगे बढा ही नही जा रहा है। यह न जाने कौन है जो हवा के पतले पर्दे को हिला रहा है? कौन है जो इस हिमालय पर्वत को मेरे नेत्रों के सामने निकट ले आता है और फिर मुझसे दूर, बहुत दूर ले जाता है? इस प्रकार वह इस हिमालय पर्वत को बार-बार मेरे निकट लाता है और फिर दूर ले जाता है। ये घाटियाँ भी मुझे ऊपर शिखरों पर चढ़ती दृष्टिगोचर हो रही हैं, इन्हें कह दो कि यह फिसलते शिखरों पर चढ़ना छोड़ दें, जो भी ऊपर चढता है उसे फिर नीचे आना पड़ता है। हे धर्मराज युधिष्ठर! मैं! मै इस समय कहाँ हूं? कुछ समझ मे नही आता है। शयन कक्ष के ये दीपक न जाने क्यों मुझे बुला रहे है? भीमसेन दासी को आदेश देता हुआ कहता है–ओ दासी! कमरे के गवाक्षों–खिड़कियों को खोल दो जिससे बाहर की शुद्ध वायु कक्ष मे आ सके। मेरा श्वास अब अवरुद्ध होता जा रहा है, सास लेने में मुझे निरन्तर कठिनाई हो रही है! निरन्तर कठिनाई हो रही है!! यह लो, अब मुझसे सास भी नही लिया जाता है, अब सांस भी नही लिया जाता है!! और 'अब नही' कहकर वह अन्तिम श्वांस लेता है।

विशेष—(१) मरणासन्न व्यक्ति की मनोदशा का बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया गया है।

(२) नाटकीयता की दृष्टि से प्रस्तुत अवतरण सुन्दर बन पड़ा है।

भीम! उठो ....हिमालय कर देंगी। (पृष्ठ १३२)

शब्दार्थ—गोपुर=दरवाजा। हताश=निराश। प्रस्तर=पत्थर। अन-बांची=बिना पढ़े हुए।

—

प्रसंग—भीमसेन मृत्यु को प्राप्त होते हैं। भीमसेन की मृत्यु पर धर्मराज युधिष्ठर अपनी मनःस्थिति को अभिव्यक्त करते हुए कहते है :

व्याख्या—हे भाई भीम! स्वर्ग के द्वार पर आकर तुम हताश और निराश होकर इस प्रकार से क्यों गिर पड़े हो! उठो! और आगे बढ़ो! लगता है शायद अब तुम नही उठ सकोगे! सदा-सदा के लिए हमसे अलग हो गये हो। किन्तु बात इतनी-सी ही तो नही है। तुम्हारे गिरने के साथ ही साथ यह संपूर्ण पाण्डवता भी तो विनष्ट हो गयी है, पूर्णतः समाप्त हो गई है। पाण्डव-पक्ष मे अब रह ही कौन गया है—एक-एक करके सब चले गये है। तुम्हारा यह पचतत्वों से निर्मित पार्थिव शरीर अनेक शताब्दियो तक इस हिमालय की बर्फ में दबा पड़ा रहेगा एवं आगे आने वाला युग अथवा प्राणी इस ओर देखेगा भी नही। तुम्हारी स्थिति तो अब ठीक वैसी ही हो गई है जैसे किसी शिलालेख को कोई भली प्रकार से पढ नही पाता है। कितनी ही ऋतुएं आएंगी और तुम्हारे इस मृत शरीर को सुगंधि के लेप से सजाकर एक दिन हिमालय को ही देंगी अर्थात् एक दिन तुम्हारा यह मृत शरीर भी हिमालय का ही एक अभिन्न अग बन जाएगा।

विशेष—(१) यहां युधिष्ठर के शब्दों मे भीम के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की गई है।

(२) भाषा भाव और परिस्थिति के अनुकूल प्रयुक्त हुई है।

(३) अलंकार—उपमा।

भीम! तुम मुझे ··· ···· मेरे बंधु! विदा!! (पृष्ठ १३२)

शब्दार्थ—एकाकी=अकेले। अनाश्रित=बिना सहारे। दिगम्बर=आकाश।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण में धर्मराज युधिष्ठर भीमसेन की मृत्यु पर अपनी मन स्थिति व्यक्त करते हुए कहते हैं :

व्याख्या—हे भीम! तुम्हारी मृत्यु से मै मात्र अकेला ही नही हो गया हूं अपितु एक प्रकार से मै निराश्रित भी हो गया हूं। जिस प्रकार से यह सपूर्ण आकाश निराश्रित जान पड़ता है उसी प्रकार मेरे सामने व्यापक भविष्य पड़ा हुआ है जिसके लिए मेरे साथ कोई भी नही रह गया है, मुझे किसी का भी सहारा नही बचा है! मेरे साथ कोई सम्बन्धी भी नही जो मेरा जीवन के अंत तक साथ दे सके। मै सम्बन्धहीनता की ऐसी स्थिति मे हू जहां सम्बन्धों को

व्यक्त अथवा प्रदर्शित करने के लिए मेरे पास भाषा भी नहीं है और न ही कोई सम्बोधन भी शेष रह गया है। ऐसी स्थिति में मैं क्या करूँ? कुछ समझ में नहीं आता है। हे भाई! तुम्हें विदा देने के अतिरिक्त मैं और कर ही क्या सकता हूँ। मैं तुम्हें विदा देता हूँ। अच्छा विदा! विदा!!

विशेष—(१) धर्मराज युधिष्ठिर के एकाकीपन का सुन्दर चित्रण हुआ है।

(२) 'सम्बोधनहीन भाषा' और 'भाषाहीन सम्बोधन' जैसी उक्तियों के प्रयोग से कथन में मार्मिकता का समावेश हुआ है।

अब कोई नहीं..............के सहयात्री हो। (पृष्ठ १३३)

शब्दार्थ—तृतीय=तीसरा। प्रहर=पहर; तीन घण्टे का समय। अनन्त=सीमाहीन। अयाचित=बिना बुलाए; बिना चाहे।

प्रसंग—क्रमशः एक-एक करके सभी पाण्डव—द्रौपदी, नकुल, सहदेव, अर्जुन और भीम सभी समाप्त हो गए, मृत्यु को प्राप्त हो गए। अब मात्र युधिष्ठिर ही शेष रह जाते हैं। भाई भीम की मृत्यु पर वह विचार करते हैं :

व्याख्या—अब कोई भी मेरा साथ देने के लिए नहीं रह गया है? सभी तो मुझे अकेला छोड़कर चले गए हैं, कोई भी तो अब कहीं नहीं रह गया है जिसका मुझे आश्रय प्राप्त हो सके। सभी के सभी चले गये—किसी ने भी तो मेरे सम्बन्ध में कुछ नहीं सोचा। अब यहाँ रात्रि का एकाकी तीसरा प्रहर है, उसमें एकाकी आकाश है और आकाश मे टिमटिमाने वाले ये असंख्य नक्षत्र हैं। ये असंख्य नक्षत्र ही साक्षी के समान शेष रह गए हैं। इनके अतिरिक्त अब और क्या बचा है? अब वह अपने साथ आए हुए श्वान को सम्बोधित कर कहते हैं—जीवमात्र के प्रतीक श्वान! तुम एक अयाचित बन्धु के समान यहाँ मेरे साथ किस विश्वास के साथ चले आ रहे हो? यद्यपि तुम कुछ कहते-सुनते नहीं हो, मौन रहते हो, फिर भी तुम युधिष्ठिर के साथी यात्री की भाँति चले आ रहे हो।

विशेष—(१) श्वान धर्म के प्रतीक रूप मे पुराणों में वर्णित है। वही श्वान युधिष्ठिर के साथ अन्त तक रह गया था, वही अब यहाँ है। कहने का तात्पर्य यह है कि युधिष्ठिर के साथ अन्त में उनका धर्म ही गया था। इसी प्रकार मानव के साथ अंत में उसका धर्म ही जाता है।

(२) भाषा भावाभिव्यक्ति में पूर्णतः सक्षम है।

एक स्थिति पर·······समर्पित हो जाएँ। (पृष्ठ १३३-१३४)

शब्दार्थ—उदात्त=श्रेष्ठ। अभिव्यक्त=प्रकट करना। अनुच्चरित=जिसका उच्चारण न हो। समर्पित=सौंपना; सौंपा हुआ।

प्रसंग—क्रमशः एक-एक करके सभी पाण्डव—द्रौपदी, नकुल, सहदेव, अर्जुन और भीम—मृत्यु को प्राप्त होते गए। अंत में स्वयं युधिष्ठिर और उनके साथ आया कुत्ता, जो जीवमात्र का प्रतीक है, शेष रह जाता है। वह साथ आए श्वान को भाषाहीन स्थिति मे पाते है और कहते है :

व्याख्या—धर्मराज युधिष्ठिर का कथन है—एक सीमा पर पहुँचकर भाषा का भी कोई अर्थ नही रहता है, वह मनोभावों को अभिव्यक्त करने में पूर्णतः असमर्थ हो जाती है। अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए सृष्टि के पास अपनी ही भाषा है जो श्रेष्ठ और उत्तम है। युधिष्ठिर स्वयं को सम्बोधित करते हुए कहते हैं-हे युधिष्ठिर! वनस्पतियां, पशु और पक्षी, पर्वत, नदियां—प्रकृति के ये सभी तत्व इसी उदात्त भाषा का ही तो प्रयोग करते हैं। सृष्टि की भाषा सब ही के भावो को सफल अभिव्यक्ति करती है जबकि मानव की भाषा केवल मानव के भावों को ही अभिव्यक्त कर पाती है। अतः हे बन्धु! श्वान! यदि मैं तुमसे लौट जाने के लिए कहता हूँ तो इसका तात्पर्य होगा स्वयं प्रकृति से वापिस लौट जाने के लिए कहना और यदि सृष्टि नहीं होगी, तो दूसरों की तो बात ही क्या है, स्वयं ईश्वर भी नही रहेगा, उसका अस्तित्व भी समाप्त हो जाएगा। सृष्टि की उपस्थिति के कारण ही तो ईश्वर का अस्तित्व भी सुरक्षित बना हुआ है। आओ! हमें चलना चाहिए क्योंकि यात्रा का तर्क और उसका निष्कर्ष भी यही है। हम इस विराट् भाषाहीनता मे बिना उच्चारण किए हुए मन्त्र की भाँति अपने आपको समर्पित कर दे, अपना अस्तित्व समाप्त कर दें।

विशेष—(१) प्रस्तुत अवतरण में कवि ने प्रकृति के महत्व को प्रतिपादित किया है।

(२) धर्मराज युधिष्ठिर का दृष्टिकोण अभिव्यक्त हुआ है।

स्वर्ग-पर्व—३

ओ तृतीय प्रहर ······परिक्रमा कर रही हैं। (पृष्ठ १३७)

शब्दार्थ—व्योमकेश=आकाश; शिव। अश्वत्थ=पीपल का वृक्ष; ऐसा वृक्ष जिसकी जड़ें ऊपर को और शाखाएं नीचे की ओर होती है। करुणा=

दया। सदाशिवत्व=सदा कल्याणी भाव। आरात्रिक=दिन-रात; दो सूर्योदयों के मध्य का समय। परिक्रम=किसी के चारों ओर घूमना।

प्रसंग—धर्मराज युधिष्ठिर को छोड़कर शेष सभी पाण्डव हिमालय की गोद में समा चुके हैं। यहाँ स्वर्ग-पर्व के प्रारम्भ में प्रकृति का अवलोकन कर युधिष्ठिर विचार करते हैं। उनका कहना है :

व्याख्या—ओ तीसरे प्रहर के रात्रि के आकाश! व्योमकेश! सावित्री रूपी पत्तियों और नक्षत्र रूपी फूलों वाले अश्वत्थ वृक्ष तुम्हीं तो हो। (तुम्हारी जड़ें दृष्टिगत नहीं होती जो ऊपर को ही होंगी और शाखाओं के रूप में प्रकाश की किरणें एवं नक्षत्र नीचे की ओर दिखलाई दे रहे हैं।) और जब तुम इस पृथिवी पर नदियों के रूप में उसकी करुणा के श्लोक लिख देते हो उस समय तुम्हारी दया एवं करुणा ही हिमालय का साकार रूप धारण कर लेती है और जब तुम नदी रूपी श्लोकों का पाठ करते हो तो वह सदाशिव की भाँति—सदा कल्याणकारी रूप में—बनकर प्रस्तुत हो जाती है जिससे सृष्टि की रचना होती है और तुम्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि तुममें ही सारी देवियाँ मानों रात-दिन चक्कर काट रही हैं।

विशेष—(१) प्रकृति का पृष्ठभूमि के रूप में सुन्दर वर्णन हुआ है।

(२) अलंकार—मानवीकरण।

रात्रि के इस प्रहर ···· यह स्तवन स्वीकारो। (पृष्ठ १३७-१३८)

शब्दार्थ—प्रहर=प्रहर; तीन घण्टे का समय। जाग्रत=जागी हुई। वेद=पवित्र ज्ञान देने वाला। कपिला=सफेद अथवा भूरे रंग की सीधी गाय। दीपित=चमकीला; आलोकित। स्तवन=पूजा गीत; गुण-गान।

प्रसंग—धर्मराज युधिष्ठिर अकेले रह गए हैं, वे रात्रि के तीसरे प्रहर में हिमालय के उच्च शिखर पर चढ़ते चले जा रहे हैं। हिमालय के कल्याणकारी तत्वों और प्राकृतिक-सौंदर्य से प्रभावित हो वह रात्रि को सम्बोधित करते हुए कहते हैं :

व्याख्या—रात्रि के इस प्रहर में तुम्हारे तपस्वी नेत्रों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं ज्ञान और विद्या की देवी सरस्वती जाग्रत हो गई हो और स्वयं सरस्वती के चरण स्पर्श से हिमालय वेद की भाँति पवित्र एवं ज्ञान का अक्षय कोष हो गया है। हे माँ! तुम्हीं वह भूरे रंग की सीधी स्वभाव वाली कपिला नामक गाय सदृश हो जिसके गायत्री-मंत्र हिमालय को गंगा नदी

और वनस्पतियों को पुष्प प्रदान करते हैं। प्रत्येक प्रातःकाल में निकलने वाली धूप कपिला गाय के दूध के समान रंग और गुणवान् होती है जो सम्पूर्ण पर्वत शिखर पर फैल जाती है। धूप में मानव को आनन्द देने की अपनी विशेषता है और धूप के मात्र नाम से ही आनन्ददायी उत्सव का आभास होने लगता है अथवा धूप ही स्वयं उत्सव का रूप धारण कर लेती है। यह धूप जब पशुओं की पीठ का संस्पर्श करती है तो उसके स्वरूप को चमका देती है और हमारे मुख पर छायी कालिमा को पोंछकर उसे आलोकित-प्रकाशित कर देती है। हे रात्रि माँ! मैं अपनी विवेक-बुद्धि अथवा प्रज्ञा-अग्नि से तुम्हारा गुणानुवाद करता हूँ, कृपा कर इसे स्वीकार करो।

विशेष—(१) यहाँ प्रकृति का वर्णन सुन्दर रूप में हुआ है।

(२) रात्रि का मानवीकरण किया गया है।

(३) अलंकार—उपमा, रूपक।

प्रत्येक कोलाहल ······ यही यज्ञ है। (पृष्ठ १३८)

शब्दार्थ—कोलाहल=शोरगुल; मन की उधेड़बुन। प्रतीति=विश्वास। आहट=संकेत; थोड़ी-सी आवाज। सर्वथा=बिल्कुल। देह=शरीर। प्रक्षालित=धोना, साफ-शुद्ध कर लेना। यज्ञ=कष्टसाध्य कार्य।

प्रसंग—क्रमशः एक-एक करके सभी पाण्डव—द्रौपदी, नकुल, सहदेव, अर्जुन और भीम मृत्यु को प्राप्त होते गए। अंत में स्वयं युधिष्ठिर शेष रह जाते हैं। रात्रि के तीसरे प्रहर में वह हिमालय के उच्च शिखर पर चढ़ते चले जा रहे हैं। एकाकी हैं और अपने से ही वह स्वयं कहते हैं :

व्याख्या—जब व्यक्ति बिल्कुल अकेले में चला जाता है तो सभी प्रकार के कोलाहल—चाहे वह बाह्य हो अथवा आन्तरिक—समाप्त हो जाते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि उस एकान्त में कोलाहल के आहट की प्रतीति ही मात्र शेष रह जाती है और जो धीमी आवाज एवं आभास शेष रह जाता है उससे भी एकदम मुक्त होने पर—अपने आपको मुक्त कर लेने पर अपने शरीर को अपने ही हाथों से प्रक्षालित करना—साफ करना—ही सबसे बड़ी साधना है। कहने का भाव यह है कि जब व्यक्ति अपने आपको सभी सांसारिक सम्बन्धों और विचारों से सर्वथा मुक्त कर लेता है तब यही उसकी सबसे बड़ी साधना हो जाती है।

विशेष—(१) प्रस्तुत अवतरण में लेखक ने बतलाया है कि मानव की

सबसे बड़ी साधना इसी में है कि वह अपने को सभी प्रकार के बंधनों और विचारों से विमुक्त रखे।

(२) भाषा भावानुकूल और प्रवाहपूर्ण है।

वनस्पतियां किस आकुलता......शेष हो जाता है। (पृष्ठ १३९)

शब्दार्थ—आकुलता=बेचैनी; व्याकुलता; तीव्र गति से। वर्ण-गंध=विभिन्न प्रकार के रंगों एवं सुगंधियों से। चामर=लम्बे बालों वाली गाय की झालरदार पूंछ जिसे पवित्रता की दृष्टि से मक्खी उड़ाने के काम में लाया जाता है अथवा देव-मूर्तियों आदि पर डुलाया जाता है। समवेतता=संयुक्त रूप से मिला हुआ। पावित्र्य=पवित्रता।

प्रसंग—धर्मराज युधिष्ठिर सभी प्रकार के सम्बंधों एवं विचारों की मुक्ति को साधना मानते है। उनकी दृष्टि यहाँ फिर से प्रकृति के सौंदर्य की ओर आकृष्ट हो जाती है। यहाँ वह उसी प्राकृतिक-सौंदर्य का वर्णन करते हुए कहते हैं :

व्याख्या—ये वनस्पतियाँ अपनी सम्पूर्ण आकुलता-व्याकुलता और जीवन्तता के साथ विभिन्न प्रकार के रंगों से युक्त हो एवं अपनी सुगंधि को लेकर हिमालय के उच्च शिखर पर उसी प्रकार दौड़ती हुई दृष्टिगत होती हैं जैसे कोई चामर लेकर उधर ही आ रहा हो। साथ ही, ये वनस्पतियाँ हिमालय की क्रमशः ऊँचाइयों पर पहुंचकर अपने समवेत रूप में थकी हुई सी रह जाती हैं। ऐसा आभासित होता है मानो वनस्पति का इससे अधिक विकास सभव नहीं है, यहाँ वह अपने सम्पूर्ण वैभव—रंगों एवं सुगंधी—से सम्पन्न है। इतना ही नही, चीड़ और देवदारु के वृक्ष भी अपने सम्पूर्ण पुरुषार्थ से युक्त होकर हिमालय की पवित्रता का मात्र स्पर्श भर कर पाते हैं, उसे प्राप्त कर पाने में असमर्थ रहते हैं। लगता है उनका साहस और जीवन्तता सब कुछ समाप्त हो गई है।

विशेष—(१) यहाँ विभिन्न रंग एवं सुगंध मानव के विभिन्न विचारों के प्रतीक है। चीड़ और देवदारु के वृक्ष मानव की महानता का उद्घोष करते है।

(२) यहाँ मूर्त्त से अमूर्त्त का वर्णन किया गया है।

और तब आरम्भ........ ...अजस्र झरती है। (पृष्ठ १३९)

शब्दार्थ—निर्वेद=सम; विश्व के प्रति विरक्ति की भावना। हिमवक्ष-स्थल=बर्फ पर। सुपर्ण=अच्छे एव विशाल पत्ते। स्वाहा-यात्रा=अंतिम अथवा होम हो जाने वाली यात्रा; जीवन-समाप्ति का भाव। आभ्यान्तर=आन्तरिक। वानस्पतिक-युधिष्ठिर=वनस्पति रूपी युधिष्ठिर। स्वर्गिक=

अलौकिक; स्वर्ग के समान सौदर्य वाला। साक्षात्=परिचय, साक्षात्कार। पर्ण-पाणियों=पत्ते रूपी हथेलियों। हिमानी=बर्फ के समान। करुणा=दया। अजस्र=निरन्तर।

प्रसंग—धर्मराज युधिष्ठिर मानव को सांसारिक सम्बन्धों और विचारों से सर्वथा मुक्त होकर निरन्तर आगे बढने की बात कहते है और यही होती है मानव की सबसे बडी साधना अथवा सबसे ऊँचा स्थान प्राप्त करना। यही से उसकी परम-मुक्ति को यात्रा प्रारम्भ होती है। धर्मराज युधिष्ठिर का कहना है :

व्याख्या—और तब मानव—मुक्ति की— उसके स्वाहा होने की स्वाहा-यात्रा अथवा महायात्रा प्रारम्भ होती है और उस व्यापक हिमानी क्षेत्र में होती है जहाँ हिम, केवल हिम ही दिखाई देता है। जिस प्रकार भोजपत्र का अकेला सुन्दर पत्ता निर्वेद हिमालय के वक्षस्थल पर अपनी स्वाहा-यात्रा करता है उसी प्रकार सभी सांसारिक सम्बन्धों और विचारो से रहित होकर मानव हिमालय के निर्वेद स्वरूप मे आकर महायात्रा प्रारम्भ करता है। अर्थात् यहाँ आकर मानव न केवल निर्वेद भावना से युक्त हो जाता है अपितु हिम की भाँति पवित्र विशाल और शाँत भावना से युक्त हो जाता है—परम-मुक्ति की प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है। फिर वनस्पति रूपी युधिष्ठिर अर्थात् प्रकृति से उत्पन्न पवित्र अन्तर वाले मानव को देवताओं की आत्मा अपने अलौकिक और स्वर्ग के समान सौदर्ययुक्त व्यक्तित्व का साक्षात्कार कराकर उसे रोक देती है; परिणामतः मानव उससे अधिक ऊँचाईयाँ प्राप्त नही कर सकता और घुटनों तक हिम मे धंसे हुए इस प्रकृति पुत्र—मानव—के पत्ते रूपी फैली हथेलियो पर स्वर्ग की बर्फ वाली दया अथवा करुणा—बर्फ के पुष्पों के रूप मे अनवरत रूप से झरती रहती है।

विशेष—(१) यहाँ मानव की मुक्ति पर कवि ने अपने विचार व्यक्त किए हैं। परम-मुक्ति के मार्ग पर वह कैसे अग्रसर होता है—इस ओर भी स्पष्ट सकेत किया गया है।

(२) अलंकार—अनुप्रास और रूपक।

युधिष्ठिर ! जाग्रत ··· ······ ·· शेष हूं। (पृष्ठ १४०)

शब्दार्थ—स्वत्व=अधिकार; अपनत्व। आसन्न=निकट; समीप। रक्त-रंजित=खून से रंगा हुआ। अनन्त=अनेक; असीम। त्रासदियों=दुःख पहुँचाने वाली। साक्षात्कार=भेंट; अनुभूति का मिलन। शेष=बाकी।

प्रसंग—धर्मराज युधिष्ठिर एकाकी ही हिमालय के उच्च शिखर पर चढ़ते चले जा रहे है। अब वह घुटनों तक बर्फ में दब जाते है। उन्हें स्वर्गिक व्यक्तित्व

का दर्शन भी हुआ है। इसके अनन्तर वह विचार करते हैं :

व्याख्या—धर्मराज युधिष्ठिर यहाँ स्वयं को सम्बोधित कर कहते हैं—हे युधिष्ठिर ! तुम अपने अपनत्व के भाव को उसी प्रकार जाग्रत करो जिस प्रकार भोजपत्र का एक सुपल्लव अपने आपको जाग्रत रखता है। कहने का भाव यह है कि तुम अपने अपनत्व के भाव अथवा स्वतन्त्र वैचारिक दृष्टिकोण को निरन्तर जाग्रत रखो। ऐसा करना ही तुम्हारे लिए उचित होगा। युद्ध मात्र एक काल्पनिक कथा नहीं है जिसको पढ़कर अथवा सुनकर मनोरंजन प्राप्त किया जा सके बरन् यह है निकट में होने वाली घटनाओं और विगत में घटित होने वाली घटनाओं का रक्तरंजित वर्णन। कहने का भाव यह है कि विगत काल में जो युद्ध हुए हैं, जो अप्रिय घटनाएं घटी हैं, जो भीषण नर-संहार हुआ है और खून की जो सरिताएं प्रवाहित हुई हैं, इतिहास में उन सब ही का तो वर्णन है जिसके आधार पर भविष्य में होने वाली घटनाओं और भीषण रक्त-पात का भी अनुमान लगाया जा सकता है और महाभारत के रूप में जो विश्वविख्यात युद्ध कुरुक्षेत्र की भूमि में सम्पन्न हुआ है वह तो एक महागाथा है जिसमें अनेक दुःखों वाली घटनाएं—अप्रिय घटनाए—एक साथ ही आकर सम्मिलित हो गयी थीं और मैं मात्र धर्म के चक्र से साक्षात्कार करने एवं उसकी अनुभूति करने के लिए उस महागाथा के अधूरे श्लोक के समान हूँ।

विशेष—(१) यहाँ युधिष्ठिर ने महाभारत के युद्ध को अनेक घटनाओं के कारण हुआ वर्णित किया है, जिसमें दुःखों का अन्त नहीं था।

(२) लेखक ने युधिष्ठिर के चरित्र को ग्रंथ का अधूरा श्लोक कहकर उनके चरित्र को उभारने का प्रयास किया है।

हमने समय और ....**सिर होती है।** (पृ० १४०-१४१)

शब्दार्थ—तराश लेना=काट लेना। स्रावित=बहते हुए, बीतते हुए। आर्तता=दुःखपूर्ण अनुभूति। जयघोष=विजय-नाद; विजय की घोषणा। वृद्धक्षत्र=सिंधुराज जयद्रथ के पिता।

प्रसंग—सभी पाण्डव एक-एक करके हिम में समाधिस्थ हो गए हैं। केवल युधिष्ठिर बचे हैं। उनके साथ उनके धर्म का प्रतीक श्वान भी है। वे अपना अन्त भी निकट जानकर स्वयं विचार कर रहे हैं।

व्याख्या—हम कुछ समय के लिए यहाँ जन्म लेकर आये थे। पृथिवी और समय को न पहचानकर हमने अपने लिए इन दोनों में से पृथिवी के कुछ भाग पर कुछ समय के लिए एक बड़े राज्य की काँट-छाँट करने की ठानी थी। लेकिन कांपती हुई भूमि और बहते हुए समय के साथ मानवीयता का भाव कट गया था। तभी महायुद्ध हुआ और उसमें अनेक लोग—योद्धा—हताहत हुए।

पृथ्वी की गंगाओं में इस काल-वीणा का नाद ही तो ध्वनित हो रहा है। सूर्योदय के पूर्व समय का यह तेजस्वी आकाश इस काल-वीणा के स्वरों से ही तो झंकृत होकर ऊं कार का स्वरूप धारण कर गया है। कहने का भाव यह है कि काल-वीणा के स्वर से सम्पूर्ण आकाश गुंजित है और ऊं कार के रूप में दृष्टिगत हो रहा है। हे युधिष्ठिर ! क्या तुम्हारे मन में इस काल-वीणा के स्वर को—सारस्वत वीणा के गान को—सुनने की उत्सुकता जागृत हो रही है ? क्या अभी भी सासारिक प्रलोभन की ओर तुम्हारा मन आकर्षित है जिससे अनुप्रेरित होकर तुम इस वीणा के स्वर को सुनना चाहो ?

विशेष—(१) युधिष्ठिर की विचारधारा अपने चरम को प्राप्त हुई जान पड़ती है।

(२) सारस्वत वीणा, ब्राह्म मुहूर्त, प्रणव जैसे शब्दों के प्रयोग से भाषा मे अद्भुत शक्ति आ गयी है।

(३) संस्कृतनिष्ठ शब्दावली का प्रयोग ध्यातव्य है।

हिम एक पर्व है…… ……… …को वरण करो। (पृष्ठ १४३)

शब्दार्थ—स्वर्गोत्सव=अलौकिक एवं अनुपम उत्सव। परिणय=प्रेम-बंधन। जाज्वल्य=उज्ज्वल; चमकदार। वरण=स्वीकारना; अपनाना।

प्रसंग—धर्मराज युधिष्ठिर का अन्तिम समय समीप है। निर्वेद स्थिति से पूर्ण होकर वह स्वयं अपने ही विचारो में डूबे हुए है और अपने आपको ही सम्बोधित कर कहते है।

व्याख्या—हे युधिष्ठिर ! यह हिम, चारों ओर हिम जो देख रहे हो, हिम नही है वरन् श्वेत फूलों वाला एक स्वर्गीय उत्सव है, एक पर्व है। इतना ही नही, सृष्टि के आरम्भ में आकाश ने मंदार फूलो की जो माला प्रेम-बंधन के रूप मे इस हिमालय के गले मे डाली थी, उस प्रणय-बंधन की सुगन्धि के रूप मे ही तो यह हिम चारो ओर दूर तक फैली हुई दिखाई देती है। हे युधिष्ठिर ! क्या देवताओं के शरीर की प्रदीप्त उज्ज्वलता और पवित्रता इससे भी अधिक बढ़कर है ? नही, कदापि नही। यह हिम तो उससे कही अधिक उज्ज्वल और पवित्र है, फिर इसे वरण करने में कौन-सी कठिनाई है ? युधिष्ठिर ! इस हिम का वरण करो, अपनी आत्मा में इस हिमालय को स्वीकार कर स्थान प्रदान करो। कहने का भाव यह है कि अन्य भाइयों के समान ही इस हिम मे समाधिस्थ हो जाना ही उचित है। अतः ऐसा ही करो।

विशेष—(१) यहाँ तक आकर धर्मराज युधिष्ठिर की विचारधारा अपने चरमोत्कर्ष को पहुंच गई है।

(२) यहाँ कवि ने हिम को श्वेत फूलों का स्वर्गोत्सव कहा है, जो अत्यन्त ही सटीक है।

(३) भाषा भावाभिव्यक्ति में पूर्णतः सक्षम है।

कैसा है यह... .... से साक्षात करवाया। (पृष्ठ १४३-१४४)

शब्दार्थ—दक्षिणावर्त शंख=एक प्रकार का शंख जिसका घुमाव अथवा मुंह दक्षिण या दाहिने हाथ की ओर होता हैं। श्वान=कुत्ता। सहयात्री=साथ-साथ चलने वाले। क्षत-विक्षत=घायल; नष्ट-भ्रष्ट। साक्षात=भेंट; साक्षात्कार।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण में धर्मराज युधिष्ठिर अपने साथ में आए हुए कुत्ते—जो युधिष्ठिर के धर्म का प्रतीक माना जा सकता है—को सम्बोधित करते हुए कहते हैं।

व्याख्या—यह कैसा समय है!! आकाश के पूर्व शिखरों पर खड़ा होकर यह सूर्य अपने हाथों में दक्षिणावर्त नामक शंख लेकर फूंक रहा है जिससे निकलने वाली आवाज़ हमें स्पष्ट सुनाई पड़ती है और हमें यह पूर्वाभास हो गया है कि अब हमारे जीवन का अन्त अत्यन्त समीप है। हे बंधु श्वान! स्वर्ग का द्वार आ गया है, क्योंकि हम स्वर्ग की सीमा में प्रवेश कर रहे हैं। अतः तुम उत्तर दिशा के दरवाजे की सांकल को खटखटाओ जिससे द्वार खुल जाए और हम इसमे प्रवेश करें। सांकल को खटखटाना इसलिए भी आवश्यक है कि देवतागण दिशाओं की सांकलों की आवाज को ही सुनते हैं। तुम्हें डरने का कोई कारण नही है। तुम अन्तिम समय तक मेरी यात्रा मे अनवरत रूप से साथ देते रहे हो और तुम्हींने मुझे अगाध करुणा के भावों से अवगत कराया है। भला मैं तुम्हें कैसे विस्मृत कर सकता हूँ और अकेला छोड़कर स्वर्ग में कैसे जा सकता हूं। कहने का भाव यह है कि पहले तुम्हें स्वर्ग मे प्रवेश कराऊंगा तब कहीं मैं स्वर्ग में प्रविष्ट होऊंगा। तुम्हारे से पृथक् होकर स्वर्ग की प्राप्ति मुझे किसी भी स्थिति मे मान्य नही होगी।

विशेष—(१) युधिष्ठिर की मृत्यु का क्षण समीप है, यहाँ यह स्पष्ट है।

(२) युधिष्ठिर के मन मे मानव-मात्र के प्रति अगाध करुणा का भाव भी उद्भिन्न था—इस ओर कवि ने स्पष्ट संकेत किया है।

अभी यह उत्तर..........युधिष्ठिर ! स्वाहा !! (पृष्ठ १४४-१४५)

शब्दार्थ—आपत्ति=कठिनाई; विरोध। त्रिपुण्ड=तिलक। आहट= आवाज। आवाहन=आमन्त्रण; पुकारना। स्वाहा=सब समाप्त हो जाना; मृत्यु को प्राप्त हो जाना।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण में कवि ने धर्मराज युधिष्ठिर के देह-समर्पण का चित्रण किया है। यहाँ वह अपने साथ आए हुए श्वान को सम्बोधित कर कहते है।

व्याख्या—हे बंधु ! श्वान !! अभी साँकलों की खटखटाहट को सुनकर देवतागण स्वर्ग के उत्तर दिशा वाले द्वार को खोल देंगे—अभी-अभी ही यह स्वर्ग का उत्तर द्वार खुलना चाहता है और यह मै भलीभाँति जानता हूँ कि देवता लोग किसी भी स्थिति मे, जहाँ तक सभव होगा, तुम्हारे लिए स्वर्ग में प्रवेश पर आपत्ति करेंगे—तुम्हारे प्रवेश का तीव्र विरोध करेंगे किन्तु तुम मुझ पर विश्वास रखो। यदि देवता लोग तुम्हारे स्वर्ग में प्रवेश पर आपत्ति करेंगे तो मै स्वयं स्वर्ग में प्रवेश नही करूंगा; तुम्हीने तो मुझे सृप्टि में करुणा के महत्व को समझाया था। अत: तुम्हारे बिना मुझे यह स्वर्ग भी अस्वीकार होगा। मैं इसी ब्राह्म मुर्हूत की प्रतीक्षा में था, जो अब आ गया है। कारण यह है कि इस शुभ मुर्हूत में ही तो हिमालय अपना स्वर्ग का द्वार खोलता है जिससे होकर सृप्टि के सारे पुण्य स्वर्ग में प्रवेश कर जाते है। तुम्हारे भाल पर हिम का जो त्रिपुण्ड रूपी तिलक लग गया है, इसे पोंछ लो। और यह देखो, हिमालय ने अपना उत्तर द्वार खोल दिया है, इसीमें से होकर हमे स्वर्ग में प्रवेश करना है। इतना ही नही, देवताओं के आने के पैरों की आहट भी स्पष्ट रूप से सुनाई पड़ रही है और यह जो गंध आ रही है—किसी भी फूल की नही है। यह तो देवताओं के शरीर से ही निकलने वाली गंध है। हे युधिष्ठिर ! यह गध ही तो स्वाहा है ! तुम्हारी न्याय-बुद्धि के आवाहन पर ही तो यह हिमालय स्वाहा कर रहा है—स्वाहा कर रहा है। और ऐसा कहते-कहते युधिष्ठिर के जीवन का अन्त हो जाता है।

विशेष—(१) यहां युधिष्ठिर की न्याय-बुद्धि की प्रशंसा वर्णित है।

(२) भाषा में गत्यात्मकता है।

(३) संस्कृतनिष्ठ शब्दावली के प्रयोग से भाषा में अद्‌भुत चमत्कार आ गया है।

(४) धर्मराज युधिष्ठिर की विचारधारा और श्वान के प्रति भाव यहाँ भलीभाँति व्यक्त हुए है।